कुन्दकुन्द

मणिमाला

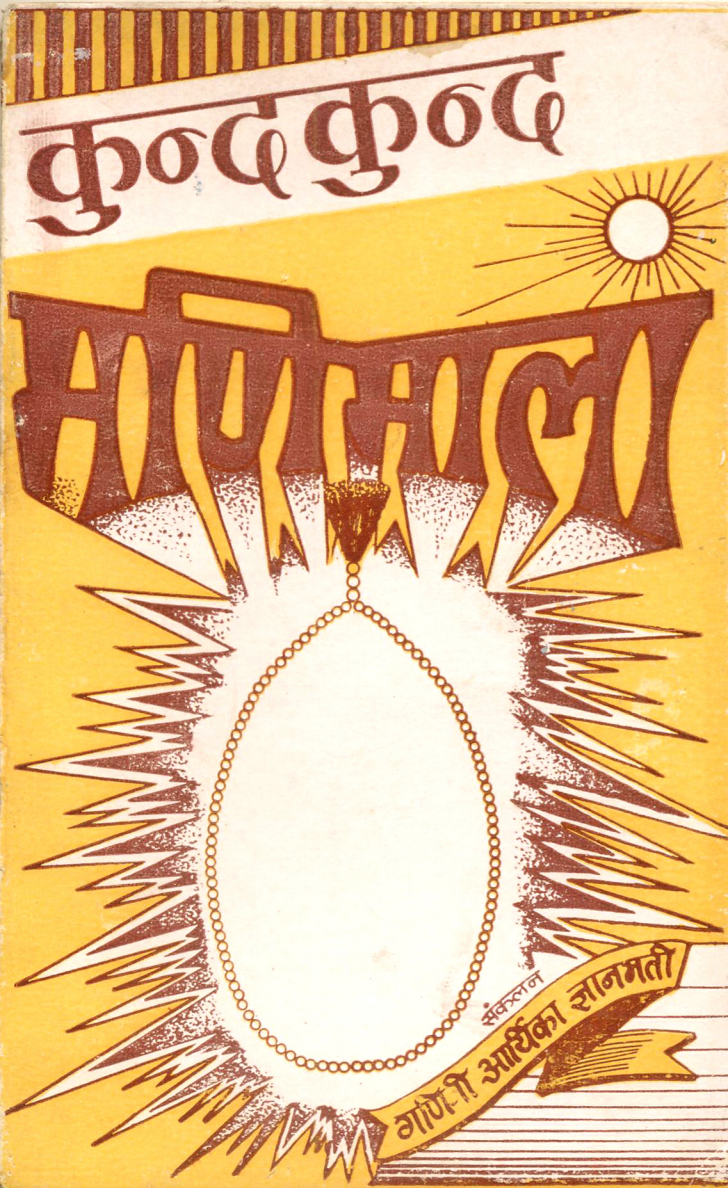

संकलन

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

(1) भक्ति अधिकार

तीर्थंकर स्तुति–

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे।।1।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-1)

शंभु छन्द–

श्री जिनवर तीर्थंकर केवलज्ञानी, अर्हत्परमात्मा हैं।
जो हैं अनन्तजिन मनुजलोक में, पूज्य परम शुद्धात्मा हैं।।
निज कर्म मलों को धो करके, जो महाप्राज्ञ कहलाते हैं।
ऐसे जिनवर की स्तुति कर, चरणों में शीश झुकाते हैं।।1।।

अर्थ–जो जिनवर—कर्मशत्रु को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवली—केवलज्ञानी हैं, अनंतजिन—अनंत संसार को जीतने वाले हैं, नरप्रवरलोकमहित—लोक में श्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि से पूजित हैं, विद्धुतरजोमल—ज्ञानावरण–दर्शनावरण नामक रजरूपी मल को धो चुके हैं और महाप्राज्ञ—सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं ऐसे तीर्थंकरों की मैं स्तुति करूँगा।

भावार्थ–श्री कुन्दकुन्द देव ने तीर्थंकर भक्ति आदि दश भक्तियाँ बनाई हैं जिनमें से मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के कृतिकर्म में प्रत्येक भक्ति की प्रारम्भ विधि में इस 'थोस्सामि' स्तव को पढ़ा जाता है। यह चौबीस तीर्थंकर भक्ति है। इसे 'थोस्सामि स्तव' से भी जाना जाता है।

चौबीस तीर्थंकर भक्ति–

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो।।2।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-2)

निजज्ञान किरण के द्वारा जो, त्रैलोक्य ज्ञेय उद्योत करें।
उन धर्म तीर्थकर्त्ता जिन का, वंदन निज में सुख स्रोत भरे।।
अरहंत अवस्था प्राप्त केवली, जितने भी तीर्थंकर हैं।
उन त्रैकालिक चौबिस जिनवर का, वंदन सबको सुखकर है।।2।।

अर्थ–लोक को प्रकाशित करने वाले, धर्मरूपी तीर्थ के कर्त्ता जिनवरों की मैं वंदना करता हूँ और अर्हंत पद को प्राप्त, केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों की मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ–भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इनमें से चौथे काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ढाई द्वीप में पाँच भरत, पाँच ऐरावत हैं। विदेह एक सौ साठ हैं, इनमें हमेशा ही चतुर्थकाल की व्यवस्था रहने से तीर्थंकर होते ही रहते हैं अतः एक साथ यदि अधिकतम तीर्थंकर भगवान होवें तो एक सौ सत्तर (170) हो सकते हैं, उन सबको मेरा नमस्कार होवे।

सिद्धों की वंदना–

उड्ढमहतिरियलोए, छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे, दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि।।3।।

(सिद्धभक्ति गाथा-3)

जो ऊर्ध्व-अधो अरु मध्यलोक से, सिद्ध हुए शुद्धात्मा हैं।
सुषमा आदिक छह कालों में, निर्वाण प्राप्त सिद्धात्मा हैं।।
उपसर्ग सहन करके अथवा, उपसर्ग बिना जो शुद्ध हुए।
मैं नमन करूँ सब सिद्धों को, जो द्वीप उदधि से सिद्ध हुए।।3।।

अर्थ–जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक से सिद्ध हुए हैं, जो सुषमा-सुषमा आदि छह कालों में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहन कर या बिना उपसर्ग से सिद्ध हुए हैं तथा जो द्वीप अथवा समुद्र से निर्वाण को प्राप्त हुये हैं ऐसे समस्त सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

भावार्थ–इस सिद्धभक्ति में बारह गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्ददेव ने भूत नैगमनय से नाना भेद को प्राप्त सिद्धों की वन्दना की है। इसे पढ़कर प्रथमानुयोग

का स्वाध्याय करके इन सिद्धों के भेदों को समझना चाहिये। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक से या छहों कालों से जो सिद्ध होते हैं, वे संहरण सिद्ध कहलाते हैं। किसी ने उन्हें उठाकर ऐसे स्थलों पर छोड़ा, वहीं से केवली होकर मोक्ष चले गये ऐसे ही समुद्रों से समझना।

पंचपरमेष्ठी से प्रार्थना–

अरुहा सिद्धाइरिया, उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
एयाण णमुक्कारा, भवे भवे मम सुहं दिंतु।।4।।

(पंचपरमगुरु भक्ति गाथा-7)

अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय, साधु पंचपरमेष्ठी हैं।
इन पाँचों की भक्ती भव-भव में, हब सबको सुख देती है।।
इन पंचपरमगुरु भक्ती में, श्री कुन्दकुन्द भी लीन हुए।
हम भी उनसे प्रेरित होकर, जिनवर भक्ती को किया करें।।4।।

अर्थ–अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। इन पाँचों को किया गया नमस्कार भव-भव में मुझे सुख प्रदान करे।

भावार्थ–पंचपरमगुरुभक्ति करते हुए श्रीकुन्दकुन्ददेव ने सुख की याचना की है। ऐसे महान आचार्य भी भक्ति और उसका फल सुख की प्राप्ति की भावना रखते हैं अतः हम और आप सभी को भी भगवान की और गुरुओं की भक्ति करके सच्चे सुख की भावना करते रहना चाहिये।

निर्वाण प्राप्त सिद्धों की वंदना–

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो।।5।।

(निर्वाणभक्ति गाथा-1)

अष्टापद से श्री वृषभदेव, अरु वासुपूज्य चंपापुरि से।
गिरनारगिरी से नेमिनाथ, अरु महावीर पावापुरि से।।
निर्वाणधाम को प्राप्त जिनेश्वर, को मैं वंदन करता हूँ।
श्री कुन्दकुन्द गुरु के सदृश, निर्वाणभक्ति मैं करता हूँ।।5।।

अर्थ–भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत से, भगवान वासुपूज्य चंपापुरी से, भगवान नेमिनाथ गिरनार पर्वत से और भगवान महावीर स्वामी पावापुरी से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ–'इनको मैं नमस्कार करता हूँ' यह क्रिया आगे है। इसी निर्वाण

भक्ति में पंचकल्लाणठाणि वि कहकर पंचकल्याणक से पवित्र क्षेत्रों की, पर्वतों की और अतिशय क्षेत्रों की वंदना की है। श्री गौतम स्वामी[1] ने भी अष्टापद पर्वत आदि तीर्थों की वंदना की है। वास्तव में भगवान के कल्याणक आदि से पवित्र स्थल और तिथियाँ भी पूज्य बन जाती हैं।

सम्मेदशिखर की वंदना–

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।6।।

(निर्वाण भक्ति गाथा-2)

सम्मेदशिखर पर्वत से बीस, जिनेश्वर मोक्ष पधारे हैं।
सब कर्मक्लेश को धो करके, लोकाग्र शिखर पर राजे हैं।।
अमरासुर से वंदित वे प्रभु, उन सबको मेरा वंदन है।
व्यवहार नयाश्रित तीर्थंकर के, मुक्तिधाम को वंदन है।।6।।

अर्थ–श्री अजितनाथ से लेकर शेष बीस तीर्थंकर सुर-असुर, इन्द्रों से वंदित होते हुए कर्मों से छूटकर सम्मेदशिखर पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। इन सभी चौबीस तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार होवे।

भावार्थ–निर्वाण क्षेत्रों के नामों का उच्चारण करके जो निर्वाणभक्ति की गयी है वह व्यवहारनय के आश्रित ही है। श्रीकुन्दकुन्ददेव यहाँ स्वयं व्यवहारनय से भक्ति करते हुए महामुनियों के लिये भी व्यवहारनय की उपयोगिता को सिद्ध कर रहे हैं। पुनः अविरती और श्रावकों के लिये तो व्यवहारनय के आश्रित भक्ति, पूजा, वंदना आदि क्रियाएं उपयोगी हैं ही, यह निष्कर्ष निकलता है।

आचार्यों की भक्ति–

देसकुलजाइसुद्धा, विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह, मंगलमत्थु मे णिच्चं।।7।।

(आचार्यभक्ति गाथा-1)

जो देश जाति-कुल से विशुद्ध, होकर जिनदीक्षा लेते हैं।
मन-वचन-काय की शुद्धि से, संयुत मुनिदीक्षा लेते हैं।।
इन गुण से युत आचार्यप्रवर, तुम चरण कमल मंगलकारी।
होवें सदैव मेरे जीवन के, लिये तथा जनहितकारी।।7।।

अर्थ–देश-कुल और जाति से शुद्ध, विशुद्ध तथा मन-वचन-काय से

1. यतिप्रतिक्रमण

संयुक्त हे आचार्यवर्य! आपके चरणकमल नित्य ही मेरे मंगल के लिये होवें।

भावार्थ–यहाँ यह समझना कि कुल और जाति को माने बिना कुल, जाति से शुद्धि नहीं बन सकती है अतः सज्जातीयत्व के बिना दिगम्बर मुनि नहीं हो सकते हैं। यह बात भी श्रीकुन्दकुन्ददेव के शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। सज्जाति, सद्गृहस्थ, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, आर्हंत्यपद और निर्वाण ये सात परम-स्थान हैं। इनमें से सज्जाति के बिना आगे कोई भी स्थान प्राप्त नहीं हो सकते हैं।

योगभक्ति में संघ के लिये याचना–

एवं मए अभित्थुया, अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं, मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु।।8।।

(योगभक्ति गाथा-23)

इस विधि मेरे द्वारा संस्तुत, रागद्वेषादि रहित मुनिवर।
वर बोधि-समाधी दो मुझको, चउविधि संघ को तुम हे यतिवर!।
मेरे भी दुःखों का क्षय करके, सिद्धगती दिलवा दीजे।
मुझ कुन्दकुन्द का हृदय कमल, निज ज्ञान किरण से भर दीजे।।8।।

अर्थ–इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत तथा रागद्वेष से विशुद्ध—रहित अनगार—मुनिगण संघ को उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे भी दुःखों का क्षय करें।

भावार्थ–योगभक्ति में आचार्यदेव ने तेईस गाथाओं द्वारा सर्व प्रकार से तपस्वी मुनियों की वंदना करके याचना की है कि वे सर्वमुनिगण संघ को समाधि धर्मध्यान की सिद्धि प्रदान करें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये बहुत बड़े चतुर्विध संघ के आचार्य थे, एकाकी नहीं थे।

भक्तिराग से स्तुति–

एवमए सुदपवरा, भत्तीराएण संत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं, जिणवरवसहा पयच्छंतु।।9।।

(श्रुत भक्ति गाथा-11)

हे जिनवर मैंने भक्तिराग से, श्रुतसागर में रमण किया।
जो द्वादशांगमय श्रेष्ठ आपकी, वाणी में मैं मगन हुआ।।
उस जिनवाणी की भक्ती से, मैं शीघ्र ज्ञान का लाभ करूँ।
अज्ञान हटाकर आत्मा का, मैं आत्म लाभ को प्राप्त करूँ।।9।।

अर्थ–इस प्रकार मैंने 'भक्ति के राग' से द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया है। जिनवर वृषभदेव या जिनवरों में श्रेष्ठ सभी तीर्थंकर देव मुझे शीघ्र ही

श्रुत का लाभ देवें।

भावार्थ–श्रुतभक्ति की ग्यारह गाथाओं में द्वादशांगरूप श्रुत की वंदना करके आचार्यदेव ने श्रुत के लाभ की याचना की है तथा यह भी कहा है कि मैंने 'भक्तिराग' से स्तवन किया है। टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने "भक्तानुरागाभ्यां–श्रद्धाप्रीतिभ्यां"[1] भक्ति और अनुराग–'श्रद्धा और प्रीति से' ऐसा अर्थ किया है जिससे श्रीकुन्दकुन्ददेव भी भक्ति के राग से सहित थे, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति करके याचना करना दोष नहीं है–

आरोग्ग बोहिलाहं, दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं, णवरि विभासेत्थ कायव्वा।।10।।

(मूलाचार गाथा-568)

जिनदेव मुझे आरोग्य लाभ, अरु बोधि-समाधि प्रदान करें।
ऐसी स्तुति का भाव कहो, क्या नहिं निदान परिणाम करें।।
यह तो वैकल्पिक भाषा है, जिनवर की स्तुति करने में।
यह नहिं निदान का बन्ध करे, मुक्ती का कारण है सच में।।10।।

अर्थ–वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यह तो मात्र वैकल्पिक भाषा है, ऐसा समझना।

भावार्थ–जिनेन्द्र देव से आरोग्य लाभ—जन्म-मरण का अभाव, बोधिलाभ—जिनागम का श्रद्धान या दीक्षा लेने का परिणाम[1] और समाधिमरण के समय धर्मध्यानरूप परिणाम, इनकी याचना करना निदान नहीं है यह एक भक्ति की भाषा का प्रकार है।

वीतराग भगवान से भी माँगना दोष नहीं है–

भासा असच्चमोसा, णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा।
ण हु खीणरागदोसा, दिंति समाहिं च बोहिं च।।11।।

(मूलाचार गाथा-569)

याचनारूप संस्तुति असच्चमोसा, भाषा कहलाती है।
यह भाषा केवल भक्ती करने, के प्रयोग में आती है।।
रागद्वेषादि रहित जिनवर, बोधी-समाधि नहीं देते हैं।
परिणामविशुद्धी के बल पर, वे भक्त उन्हें पा लेते हैं।।11।।

1. क्रियाकलाप प्रभाचन्द्राचार्यकृत टीका।

अर्थ–पूर्व में की गयी याचना एक असत्यमृषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गयी है, क्योंकि रागद्वेष से रहित भगवान समाधि और बोधि को नहीं देते हैं।

भावार्थ–यह बोधि समाधि के लिये की गई याचना न सत्य है, न असत्य है, प्रत्युत् अनुभय भाषा है क्योंकि वीतराग भगवान कुछ भी नहीं देते। यदि वे देने लगेंगे तो रागी-द्वेषी हो जावेंगे किन्तु उनसे याचना करने से फल मिलता ही मिलता है। तात्पर्य यही है कि भक्ति से परिणामों में निर्मलता आने से जो पुण्य बन्ध होता है, उसी से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। यह भक्ति मुक्ति की प्राप्ति में भी कारण है।

वीतराग भगवान सब कुछ देते हैं–

जं तेहिं दु दादव्वं, तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स, एस तिविहस्स उवदेसो।।12।।

(मूलाचार गाथा-570)

जो कुछ भी देने योग्य रहा, सब कुछ जिनवर ने दे डाला।
रत्नत्रय के उपदेशों से, भव्यों को पावन कर डाला।।
जिनके प्रसाद से कितने ही, नर मुक्तिधाम में पहुँच गये।
पर को उपदेशित कर प्रभुवर भी, सिद्धिधाम को प्राप्त किये।।12।।

अर्थ–उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का उपदेश है।

भावार्थ–भगवान ने देने योग्य ऐसे रत्नत्रय का उपदेश दिया है जिसके प्रसाद से अनन्य भव्यजीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। अतः उन्हें अब कुछ भी देना शेष नहीं रहा है फिर भी भव्य जो कुछ माँगते हैं, उनकी वह इच्छा पूर्ण होती ही है।

भगवान की भक्ति से कर्मों का भी क्षय हो जाता है–

भत्तीए जिणवराणं, खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य, विज्जा मंता य सिज्झंति।।13।।

(मूलाचार गाथा-571)

जिनवर की भक्ती से भव-भव के, संचित कर्म विनशते हैं।
आचार्यों के प्रसाद से विद्या, मन्त्र सिद्ध नर करते हैं।।

जैसे जिनवर की भक्ति बिना, नहिं मुक्ति प्राप्त हो सकती है।
वैसे ही गुरु की भक्ति बिना, नहिं मंत्र सिद्धि हो सकती है।।13।।

अर्थ–जिनेन्द्र देव की भक्ति से पूर्व भवों में संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आचार्यों के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्र देव की भक्ति, पूजा, वंदना, स्तुति आदि पूर्वक उपासना करने से अनंत-अनंत जन्म में संचित अनंतों पाप नष्ट हो जाते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दिगम्बर मुनियों की वंदना, भक्ति, स्तुति आदि करने से विद्या-मन्त्र आदि तो सिद्ध होते ही हैं, परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है। लोक में भी यह नियम है कि बिना गुरु प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि नहीं हो सकती।

गुरुओं की भक्ति से कर्म निर्जरा भी होती है–

आइरियउवज्झायाणं, पवत्तयत्थेरगणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं, कादव्वं णिज्जरट्ठाए।।14।।

(मूलाचार गाथा-593)

आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर माने।
श्री कुन्दकुन्द ने पाँचों ही, आधार संघ चउ के माने।।
कृतिकर्म सहित इनका वंदन, पापों का नाश कराता है।
निर्जरा पूर्व कर्मों की कर, शुभ कर्म बन्ध करवाता है।।14।।

अर्थ–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना और भक्ति कर्मों की निर्जरा के लिये करना चाहिये।

भावार्थ–आचार्य, उपाध्याय आदि मुनियों की भक्ति, वंदना, स्तुति से असंख्य पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है अतः गुरुओं की भक्ति सतत करते ही रहना चाहिये। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर संघ में ये पाँच पद मूलाचार में माने गये हैं।

भक्ति श्रावक और मुनि दोनों करते हैं–

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहिं पण्णत्तं।।15।।

(नियमसार गाथा-134)

जो श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चरित भक्ती करते।
वे ही निर्वाण भक्ति करके, क्रम से मुक्तीश्री को वरते।।

व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय, के अधिकारी मुनि ही हैं।
लेकिन भक्ती के अधिकारी, श्रावक अरु मुनि दोनों ही हैं।।15।।

अर्थ–जो श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करते हैं उनके ही निर्वृत्ति भक्ति-मुक्ति की भक्ति या प्राप्ति होती है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ–नियमसार ग्रन्थ में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन किया है पुनः आगे पाँचवें अधिकार से ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण आदि का वर्णन किया है। इस पूरे ग्रन्थ में परम भक्ति अधिकार में श्रावक का नाम लिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय के अधिकारी मुनि ही हैं किन्तु भक्ति के अधिकारी श्रावक भी हैं और मुनि भी हैं।

(2) श्रावक धर्म अधिकार

चारित्र के दो भेद–

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं, जिणणाणसदेसियं तं पि।16।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-5)

शंभु छन्द–

सम्यक्त्वचरण चारित्र प्रथम, श्री जिनवर ने उपदेशा है।
जो सम्यग्दर्शन और ज्ञान, से शुद्ध चरित निर्देशा है।।
दूजा है संयमचरण चरित जो, सकल-विकल द्वयरूप कहा।
जिनज्ञान देशना से विकसित, चरणानुयोग में यही कहा।।16।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव भाषित ज्ञान-दर्शन से शुद्ध पहला सम्यक्त्वचरण चारित्र है और दूसरा संयमचरण चारित्र है वह भी जिनेन्द्रदेव के ज्ञान से उपदेशित शुद्ध है।

भावार्थ–इस सम्यक्त्वचरणचारित्र में शंका, कांक्षा आदि आठ दोष और तीन मूढ़ता आदि सर्वदोष छोड़कर निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणों को धारण करना होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि के यह सम्यक्त्वचरण ही होता है न कि स्वरूपाचरण, क्योंकि पूर्वाचार्यों के वचनों के अनुसार ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्वचरण चारित्र का लक्षण–

तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।।17।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-8)

ऐसी वाणी को जो जिनवर के, वचन मान श्रद्धान करें।
निःशंकितादि गुण से विशुद्ध, वास्तविक तत्त्व का ज्ञान करें।।
वह ही सम्यक्त्वचरण चारित्र, अवस्था प्रथम कहाती है।
यह मोक्ष प्राप्ति के साधन में, पहली सीढ़ी बन जाती है।।17।।

अर्थ–वही जिन भगवान का श्रद्धान जब निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है, तब वही प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र कहलाता है। यह चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ–वात्सल्य, विनय, दया, दान, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, पर के दोषों

को ढकना—उपगूहन, स्थितिकरण और आर्जव भाव ये सब सम्यक्त्व के गुण हैं। शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध कहलाता है। ऐसे सम्यक्त्वी के सम्यक्त्वचरण चारित्र होता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण–

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।18।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-90)

जीवों की दया स्वरूप अहिंसा, धर्म में जो श्रद्धान करे।
अठरह दोषों से रहित, वीतरागी देवों का ध्यान करे।।
निर्ग्रन्थ गुरू अर्हत्प्रवचनमय, जिनवाणी का श्रद्धानी।
सम्यग्दर्शन से युक्त उसे ही, बतलाती है प्रभुवाणी।।18।।

अर्थ–हिंसारहित धर्म में, अठारह दोषरहित देव में, निर्ग्रंथ गुरु में और अर्हंत के प्रवचन—जिनशास्त्र में जो श्रद्धा है, वही सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ–जीव दया ही धर्म है। अठारह दोषों से रहित वीतरागी, हितोपदेशी, सर्वज्ञ भगवान ही देव हैं। दिगम्बर मुद्राधारी मुनि ही गुरु हैं और जिनागम ही सच्चे शास्त्र हैं। इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी है।

संयम के दो भेद–

दुविहं संजमचरणं, सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे, परिग्गहारहिय खलु णिरायारं।।19।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-21)

सागार और अनगाररूप, संयम के हैं दो भेद कहे।
इनके पालन से श्रावकमुनि, दोनों ही शिव का मार्ग लहें।।
सागार चरित सग्ग्रंथ श्रावकों, में ही माना जाता है।
अनगार चरित निर्ग्रन्थ दिगम्बर, मुनियों में बन जाता है।।19।।

अर्थ–सागार और अनागार के भेद से संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है। उनमें से सागारचारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनियों के होता है।

भावार्थ–श्रावक धर्म और मुनि धर्म के भेद से संयम के दो भेद माने हैं। पाँच

अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के 12 व्रत होते हैं। (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।) दिग्व्रत, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और अंतिम सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। श्री गौतमस्वामी ने और श्रीकुन्दकुन्ददेव ने शिक्षाव्रत में ही सल्लेखना को लिया है।

श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम–

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।20।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-22)

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में, दर्शन-व्रत-सामायिक है।
प्रोषध-सचित्त का त्याग रात्रि-भोजन का त्याग आदि भी है।।
शुभ ब्रह्मचर्य-आरम्भत्याग, परिग्रह-अनुमति-उद्दिष्टि त्याग।
इनके पालन से देशव्रती, श्रावक, पा जाते चरम त्याग।।20।।

अर्थ–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

भावार्थ–इन ग्यारह स्थानों को प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से छह प्रतिमा तक व्रतों का पालन गृहस्थ भी कर सकते हैं, यह जघन्य श्रावक हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर नवमीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक होते हैं और अंतिम दो प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा में भी क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद होते हैं। पहली प्रतिमा में गुणों से सहित, दोषों से रहित सम्यक्त्व प्रधान है और दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत आदि बारह व्रत लिये जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि के 44 दोष नहीं होते–

मयमूढ़मणायदणे, संकाइवसणभयमईयारं।
जेसिं चउदालेदे, ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।।21।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-1)

मद आठ मूढ़ता तीन अनायतनं, छह अठ शंकादि दोष।
भय सात व्यसन भी सात पंच, अणुव्रत के जो अतिचार दोष।।
ये सभी चवालिस दोष दूर, करके जो सम्यग्दृष्टि बनें।
वे शिवपथगामी बन करके, क्रम-क्रम से सारे कर्म हनें।।21।।

अर्थ–आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंका आदि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय और पाँच अणुव्रतों के पाँच अतिचार, ये चवालीस दोष जिनके नहीं होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

भावार्थ–जाति, कुल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल और तप इनके निमित्त से अहंकार करना ये आठ मद हैं। देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके आश्रितजन ये छह अनायतन हैं। शंका आदि आठ दोष हैं। जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या-सेवन, शिकार, चोरी और परस्त्रीसेवन ये सात व्यसन हैं। इहलोक, परलोक, मरण, अगुप्ति, अरक्षा, वेदना और आकस्मिक ये सात भय हैं। पाँच अणुव्रत के पाँच अतिचार समेत इन 44 दोषों को दूर करना चाहिए।

श्रावक का धर्म, दान और पूजा है–

दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झययं मुक्खं, जइ-धम्मे तं विणा तहा सो वि।।22।।

(रयणसार गाथा-10)

दाणं पूजा मुक्खो श्रावक के, धर्म प्रमुख कहलाते हैं।
क्योंकि इनसे विरहित मानव, श्रावक संज्ञा नहिं पाते हैं।।
मुनि पदवी में हैं ध्यान और, अध्ययन प्रमुख जाने जाते।
क्योंकि इनसे विरहित साधू, नहिं मुनी अवस्था को पाते।।22।।

अर्थ–श्रावक धर्म में दान और पूजा ये दो मुख्य हैं, क्योंकि इनके बिना श्रावक नहीं हो सकते हैं। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य हैं क्योंकि इनके बिना मुनि नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ–श्रावक के दान, पूजा, शील और उपवास ये चार धर्म हैं।[1] सम्यक्त्व सहित ये चारों ही क्रियाएँ परम्परा से मोक्ष के लिये कारण हैं। इनमें अथवा देव-पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह क्रियाओं में भी दान और पूजा ये दो क्रियाएँ श्रावक को नित्य करनी ही चाहिए।

आहारदान में पात्र-अपात्र का विचार नहीं करना चाहिए–

दाणं भोयणमेत्तं, दिण्हई धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण।।23।।

(रयणसार गाथा-14)

1. रयणसार गाथा 9।

श्रावक मुनि को आहार मात्र, दे करके धन्य कहाता है।
नहिं पात्र-अपात्र विचार करे, वह ही भाक्तिक कहलाता है।।
मुद्रा सर्वत्र पूज्य होती, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवर की।
आहार मात्र देने हेतू, नहिं उचित परीक्षा यतिवर की।।23।।

अर्थ–गृहस्थ भोजन मात्र दान देता है और धन्य हो जाता है अतः मुनि के दर्शन मिलने पर यह पात्र है या अपात्र है ? ऐसा विचार करने से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ–पिच्छी-कमण्डलुधारी दिगम्बर मुनि को देखकर उन्हें आहारदान देना चाहिये। यह पात्र है या नहीं ? सच्चे मुनि हैं या शिथिलचारित्री ? इन बातों का विचार नहीं करना चाहिये। कहा भी है–**'भुक्तिमात्र प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां'।**[1] आहारमात्र देने के लिये तपस्वियों की क्या परीक्षा करना ? अतः आज के मुनियों को भक्ति से आहारदान देना उचित है।

श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ–

गुणवयतवसमपडिमा-दाणं, जलगालणं अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।24।।

(रयणसार गाथा-137)

गुण व्रत तप समता दान और, प्रतिमा आदिक बतलाई हैं।
जलगालन रात्रीभुक्ति-त्याग, रत्नत्रयरूप कहाई हैं।।
ये भेदरूप श्रावक की त्रेपन, क्रिया नहीं हैं आगम में।
इनके त्रेपन व्रत भी होते, जो बतलाए जिनशासन में।।24।।

अर्थ–अष्टमूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता भाव, ग्यारह प्रतिमाएं, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रिभोजन नहीं करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ कही गयी हैं।

भावार्थ–पाँच उदम्बर, तीन मकार—मद्य, माँस, मधु का त्याग करना ये आठ मूलगुण हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश तथा प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये बारह तप हैं। ग्यारह प्रतिमा के नाम आ चुके हैं। आहार, औषधि, शास्त्र और अभय ये चार दान हैं। इन त्रेपन क्रियाओं के त्रेपन व्रत भी किये जाते हैं।

1. उपासकाध्ययन।

आत्मा के तीन भेद–

तिपयारो सा अप्पा, परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवायेण चयहि बहिरप्पा।।25।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-4)

बहिरात्मा अन्तर आत्मा, परमात्मा से आत्मा त्रय विध है।
पुद्गल शरीर में छिपी हुई, आत्मा निश्चय से ही प्रभु है।।
बहिरात्म अवस्था को तजकर, अन्तर आत्मा बनना चहिए।
अन्तर आत्मा के द्वारा परमात्मा, का पद लहना चहिए।।25।।

अर्थ–यह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तर आत्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन से रहित परवस्तु को अपनी मानने वाला बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि होकर अपनी आत्मा को ही अपनी समझकर क्रम से चारित्र में बढ़ने वाले अन्तरात्मा हैं और अर्हंत-सिद्ध भगवान परमात्मा हैं। पहले गुणस्थान से तीसरे तक बहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थान से बारहवें तक अन्तरात्मा हैं। इनमें भी चौथे गुणस्थानवर्ती जघन्य, पाँचवें से ग्यारहवें तक मध्यम और बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतरात्मा हैं। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

बहिरात्मा संसार में भ्रमण करता है–

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदिसंसारे।।26।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-30)

जो पुत्र-कलत्रादिक निमित्त से, धन का अर्जन करते हैं।
जो पापबुद्धि से निजकुटुम्ब का, पालन-पोषण करते हैं।।
जो जीवदया अरु दान आदि, विरहित बहिरात्मा होते हैं।
वह जीव भवभ्रमण कर-करके, मानव जीवन को खाते हैं।।26।।

अर्थ–जो जीव पुत्र, स्त्री आदि के निमित्त पापबुद्धि से धन का उपार्जन करता है, जीव दया और दान को छोड़ देता है, वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।

भावार्थ–जो अपने कुटुम्ब के पोषण के लिये ही पाप करके—झूठ, चोरी करके धन कमाता है और जीव दया आदि अणुव्रतों को धारण नहीं करता है एवं

धन को दान में नहीं लगाता है वह संसार में ही घूमता रहता है, यह बहिरात्मा का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक और महाव्रती मुनि अन्तरात्मा हैं।

तीनों लोकों में जीव का भ्रमण–

तेयाला तिण्णिसया, रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा, जत्थ ण दुरुदुल्लियो जीवो।।27।।

(भावपाहुड़ गाथा-36)

यह लोक तीन सौ तैंतालीस, राजू प्रमाण है कहा गया।
इसके मधि आठ प्रदेशों को, तज सभी जगह यह जीव गया।।
मेरू पर्वत की जड़ में आठ, प्रदेश नित्य ऐसे रहते।
बस उनको तज सम्पूर्ण लोक में जीव जन्म लेते रहते।।27।।

अर्थ–तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोक क्षेत्र में मध्य के आठ प्रदेशों को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं है कि जहाँ इस जीव ने भ्रमण नहीं किया हो।

भावार्थ–यह लोक तीन सौ तेंतालीस (343) राजू प्रमाण है। असंख्यात योजनों का एक राजू होता है। सुमेरू की जड़ में लोकाकाश के मध्य के आठ प्रदेश हैं। उन आठ प्रदेशों को छोड़कर बाकी इस असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में यह जीव सम्यक्त्व के बिना अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। जब केवली समुद्घात होता है तब आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश सुमेरू की जड़ के आठ प्रदेशों में स्थित हो जाते हैं बाकी सर्व प्रदेश सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये लोकानुयोग का ज्ञान करना आवश्यक है।

शरीर में कितने रोग होते हैं–

एक्केक्केंगुलिवाही, छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे, रोया भण कित्तिया भणिया।।28।।

(भावपाहुड़ गाथा-37)

मानव शरीर के इक-इक अंगुल-मात्र प्रदेशों में जानों।
इतने लघुकाय प्रदेशों में, छ्यानवें रोग होते मानों।।
तब मानव का शरीर कितने, रोगों से देखो भरा हुआ।
हे जीव! अपावन इस शरीर में, पावन आत्मा छिपा हुआ।।28।।

अर्थ–मनुष्य के शरीर के एक-एक अंगुलमात्र प्रदेश में जब छियानवें-छियानवें रोग होते हैं तब शेष समस्त शरीर में कितने-कितने रोग कहे जा सकते

हैं। हे जीव! यह तू जान।

भावार्थ–मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल बराबर स्थान में छियानवे-छियानवे रोग माने गये हैं तो पूरे शरीर में संख्यात रोग माने गये हैं अतः इस शरीर को रोगों की खान समझकर इससे संयम की साधना करके मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही उचित है। अन्यत्र सर्व रोगों की संख्या 56899584 प्रमाण कही गयी है। इस रोगी, क्षणिक, अपवित्र शरीर से ही पूर्ण स्वस्थ, अविनाशी, शुद्ध पवित्र आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

अंतर्मुहूर्त में क्षुद्रभवों की संख्या–

छत्तीसं तिण्णिसया, छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे, पत्तोसि णिगोयवासम्मि।।29।।

(भावपाहुड़ गाथा-28)

हे जीव निगोदवास में तूने, इक अन्तर्मुहूर्त भीतर।
छ्यासठ हजार त्रयशत छत्तिस, भव धारण किए सोच अन्तर।।
यह जीव निगोदवास में जाने, कितने काल बिताता है।
रत्नत्रय के प्रयास बल पर, मृत्युंजय पदवी पाता है।।29।।

अर्थ–हे जीव! तूने निगोदवास में अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण प्राप्त किया है।

भावार्थ–एक श्वांस के अठारहवें भागप्रमाण सबसे जघन्य आयु से लेकर जन्म-मरण करना क्षुद्रभव कहलाता है। अड़तालीस मिनट के अन्दर ही काल में एक जीव के उपर्युक्त संख्या प्रमाण जन्म-मरण हो जाते हैं अतः इन क्षुद्रभवों से डरकर ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे बार-बार जन्म-मरण ही न करना पड़े। वह उपाय रत्नत्रय ही है इससे ही मृत्युंजय पद प्राप्त किया जाता है।

अकालमृत्यु कैसे होती है ?

विसवेयणरत्तक्खय, भयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं, णिरोहणा खिज्जए आऊ।।30।।

(भावप्राभृत गाथा-25)

विष खाने तीव्र वेदना से, रक्तक्षय भय शस्त्रादिक से।
संक्लेश आहार निरोध और, स्वासोच्छ्वासादिक रुकने से।।
इन विविध हेतुओं से अकाल, मृत्यू परमागम में मानी।
इसके निर्वारण में भक्ती, औषधि भी है निमित्त मानी।।30।।

अर्थ–विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र ग्रहण, संक्लेश, आहार-निरोध और श्वासोच्छ्वास के निरोध आदि से आयु का क्षय हो जाता है।

भावार्थ–विष खा लेने से, तीव्र वेदना के उठ जाने से, शरीर से खून अधिक निकल जाने आदि कारणों से अकाल में ही आयु की उदीरणा होकर अकाल मृत्यु अपमृत्यु हो जाती है। आज जो अकालमरण का निषेध करते हैं तो उन्हें यह गाथा कंठाग्र कर लेनी चाहिये। उत्तरपुराण में कहा है कि महाभारत के युद्ध में सर्वाधिक अकालमृत्यु हुई है। अकालमृत्यु के निवारण हेतु औषधि आदि प्रयोग व चिकित्साशास्त्र भी माने गये हैं।[1]

वीरमरण से मरना चाहिये–

धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।।31।।

(मूलाचार गाथा-100)

हो धैर्यरहित या धैर्यसहित, सबको ही मरना पड़ता है।
यदि मरना आवश्यक है तो, धीरजयुत मरना अच्छा है।।
संन्यासविधी से वीरमरण, करना समाधि कहलाती है।
इसके विपरीत मरण से भव, की परम्परा बढ़ जाती है।।31।।

अर्थ–धैर्यशाली को भी मरना पड़ता है और नियम से धैर्यरहित जीव को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धैर्यसहित होकर ही मरना अच्छा है।

भावार्थ–मरण से डरने वाले जीव धैर्य छोड़कर हा-हाकार करते हैं, रोते-धोते हैं तो भी मरते ही हैं, उन्हें मरण से कोई बचा नहीं सकता है और मरने से नहीं डरने वाले धीर-वीर मनुष्य भी मरते ही हैं। पुनः धैर्य धारण कर सन्यास विधि से मरण करना ही अच्छा है ऐसे वीरमरण से तो संसार की परम्परा ही समाप्त हो जाती है और पुनः-पुनः मरना नहीं पड़ता है। इससे विपरीत अधीर होकर मरने से जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती ही चली जाती है।

यह जीव अकेला ही जन्म-मरण करता है–

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादिमरणं, एगो सिज्झदि णीरयो।।32।।

(नियमसार गाथा-101)

1. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृष्ठ 343।

यह जीव अकेला मरता है, अरु जन्म अकेला ही पाता।
इक जीव के जन्म-मरण होते, इकला ही मुक्ती में जाता।।
ऐसी एकत्व भावना ही, संसार भ्रमण छुड़वाती है।
पर से ममत्व का भाव हटा, आत्मा का भान कराती है।।32।।

अर्थ–जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। एक जीव के ही यह जन्म-मरण होता है और अकेला ही यह जीव कर्मरहित होता हुआ सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–यह एकत्व भावना ही जीव को मुक्ति के मार्ग में लगा देती है और संसार के बन्धन को छुड़ा देती है। इस भावना के द्वारा परिवार से या शिष्यपरिकर से मोह छूटता है तथा शरीर से भी निर्ममता बढ़ती है अतः प्रतिदिन तो क्या, प्रतिक्षण भी इसकी भावना भाते रहना चाहिये।

जिनवचन ही परम औषधि है–

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।33।।

(दर्शनपाहुड़ गाथा-17)

जिनदेव वचन औषधि स्वरूप, इन्द्रिय सुख त्याग कराती है।
यह है ऐसी अमृतवाणी, जरमरण व्याधि नश जाती है।।
क्या और कहें इस वाणी से, सब दुःखों का क्षय हो जाता।
केवल सुनने से नहिं प्रत्युत्, गुनने से ही फल दिलवाता।।33।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव के वचन औषधिस्वरूप हैं। विषय सुखों का विरेचन—त्याग कराने वाले हैं, बुढ़ापा-मरण आदि की पीड़ा को दूर करने वाले हैं तथा समस्त दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

भावार्थ–जिनागम के स्वाध्याय से विषय सुखों से वैराग्य होता है, यह ज्ञान ही परम औषधिस्वरूप होने से अमृततुल्य है। जन्म, जरा, मरण आदि को दूर करके संसार के सर्व दुःखों से छुड़ाने वाला है और तत्काल में भी शांति देने वाला है। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है, मोक्षमार्ग में प्रीति होती है, आत्मा के स्वरूप की पहचान होती है और परिणामों में दृढ़ता आती है।

व्रत से स्वर्ग जाना अच्छा है–

वरवयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं।।34।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-25)

व्रत और तपस्या के द्वारा, स्वर्गादि प्राप्त करना अच्छा।
लेकिन अव्रत और बिना तपस्या, नरक में जाना नहिं अच्छा।।
छाया व धूप में खड़े प्रतीक्षक, दो नर में कितना अन्तर।
वैसे ही मोक्ष प्रतीक्षा में, व्रत-अव्रत में भारी अन्तर।।34।।

अर्थ–व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त करना अच्छा नहीं है। देखो! छाया और धूप में बैठकर इष्ट पुरुष की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा अन्तर है।

भावार्थ–अणुव्रत, महाव्रत लेकर तथा तपश्चरण आदि करके स्वर्ग को प्राप्त करने वाले अच्छे हैं, किन्तु बिना व्रत और बिना तप के भला नरक जाना कौन चाहेगा ? देखो, किसी मित्र की प्रतीक्षा में एक तो छाया में बैठा है और दूसरा घाम में बैठा है, दोनों में बहुत अन्तर है। ऐसे ही मोक्ष की प्रतीक्षा करते हुए व्रतादि से स्वर्ग में जाना अच्छा है, अव्रती रहकर नरक आदि दुर्गतियों में नहीं जाना चाहिये।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दो से मोक्षमार्ग नहीं है–

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि।।35।।

(प्रवचनसार गाथा-237)

यदि जीव-अजीवादिक पदार्थ, श्रद्धान न प्राणी करता है।
तो आगमज्ञानमात्र से ही, वह सिद्ध नहीं बन सकता है।।
श्रद्धान पदार्थों का भी यदि, अविरत श्रावक को हो जावे।
तो भी निर्वाण प्राप्त करने में, नहिं समर्थता वो पावे।।35।।

अर्थ–यदि जीवाजीवादि का श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के ज्ञान से ही जीव सिद्ध नहीं हो सकता है अथवा पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत—अव्रती है तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ–"आगमज्ञानतत्त्वार्थसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव।" आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतावस्था इन तीनों के एकसाथ न होने से 'मोक्षमार्ग' नहीं बन सकता है, क्योंकि रत्नत्रय में मात्र सम्यग्दर्शन और ज्ञान से मोक्षमार्ग नहीं माना गया है, तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि अविरति के मोक्षमार्ग के दो ही अवयव हैं इसलिये अविरति को सम्यक्चारित्र ग्रहण करना ही चाहिए।

वस्त्र सहित वेष में मुनि की चर्या नहीं करना चाहिये–

सूत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं, पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।36।।

(सूत्रपाहुड़ गाथा-7)

जो आगम के सूत्रार्थ और, पदज्ञान से विरहित होते हैं।
उनको मिथ्यादृष्टी जानो, वे अज्ञानी ही होते हैं।।
यदि खेल-खेल में भी गृहस्थ, करपात्र में भोजन करते हैं।
वे वस्त्र सहित मुनिचर्या कर, मुनिराज नहीं बन सकते हैं।।36।।

अर्थ–जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। वस्त्र सहित मुनि को क्रीड़ा में भी पाणिपात्र में भोजन नहीं करना चाहिये।

भावार्थ–जो मुनि बनकर भी वस्त्रधारी हैं अथवा गृहस्थ हैं, ऐसे को साधु मानकर खेल-खेल में भी करपात्र में आहार नहीं देना चाहिये। हाँ, मुनियों की चर्या पालने वाली आर्यिकाओं को करपात्र में आहार लेने का विधान है अतः सवस्त्र मुनि का निषेध समझना चाहिये और गृहस्थों को खेल-खेल में भी करपात्र में आहार, केशलोच करना, पिच्छी आदि लेने की चर्या नहीं करनी चाहिये।

(3) मुनिधर्म (सराग चारित्र)

बारह अनुप्रेक्षा–

अद्धुवमसरणमेगत्त-मण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवर णिज्जर, धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।।37।।

(द्वादशानुप्रेक्षा गाथा-2)

शंभु छन्द–

अध्रुव-अशरण-एकत्व और, अन्यत्व तथा संसार-लोक।
अशुचित्व तथा आस्रव संवर, निर्जरा-धर्म अरु ज्ञान बोध।।
इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का, चिंतन साधू जो करते हैं।
उनकी आत्मा में तीव्ररूप, वैराग्यभाव परिणमते हैं।।37।।

अर्थ–अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि, ये बारह अनुप्रेक्षाएं हैं। इनका हमेशा चिंतवन करना चाहिये।

भावार्थ–इन बारह भावनाओं का जो क्रम है, उसी क्रम से एक-एक का विस्तार से वर्णन किया गया है। यही क्रम श्री आचार्य देव ने मूलाचार में भी रखा है। आज प्रसिद्धि में जो बारह भावनाओं का क्रम है, वह तत्त्वार्थसूत्र के आधार से है। इन भावनाओं के चिंतवन करने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है और व्यक्ति मुनि, आर्यिका आदि दीक्षा लेकर मोक्षमार्गी बन जाता है। तीर्थंकर भी इन बारह भावनाओं का चिंतवन करके दीक्षा धारण करते हैं, इसलिये ये बारह भावनाएँ महान हैं।

नियम से धारण करने योग्य रत्नत्रय ही हैं–

णियमेण य जं कज्जं, तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।38।।

(नियमसार गाथा-3)

जो नियम से करने योग्य कार्य, वह 'नियम' शब्द से कहलाता।
वह दर्शनज्ञान चरित्र ही करने, योग्य कार्य है कहलाता।।
विपरीत अर्थ परिहार हेतु, उसमें भी 'सार' शब्द जोड़ा।
तब 'नियमसार' यह पद सार्थक, बन गया मुक्तिपथ का मोड़ा।।38।।

अर्थ–नियम से जो करने योग्य है वह 'नियम' है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र

ही है। विपरीत को दूर करने के लिये इसमें 'सार' शब्द जोड़ा गया है। इस प्रकार यह 'नियमसार' पद सार्थक है—सम्यक् रत्नत्रय का वर्णन करने वाला है।

भावार्थ–'नियमसार' ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्यदेव ने नियम का अर्थ रत्नत्रय करके 'सार' का अर्थ 'समीचीन' किया है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और 'मिथ्याचारित्र' का परिहार करने के लिये 'सार' पद है। नियमसार ग्रन्थ में व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय का वर्णन है।

साधु को नित्य ही रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये–

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।39।।

(समयसार गाथा-16)

साधू को दर्शन-ज्ञान-चरित का, सेवन नित करना चहिये।
व्यवहार रत्नत्रय के बल पर, आत्माराधन करना चहिये।।
निश्चय रत्नत्रय ध्यान में ही, होता यह जिनवर वाणी है।
साधन व्यवहार साध्य निश्चय, यह कुन्दकुन्द की वाणी है।।39।।

अर्थ–साधु को नित्य ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन करना चाहिए और निश्चयनय की अपेक्षा से इन तीनों को आत्मा ही जानना चाहिए।

भावार्थ–व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन हैं और निश्चयनय से इनसे परिणत—एकरूप हुई आत्मा ही निश्चय रत्नत्रय है, अतः व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करना चाहिए। यह निश्चय रत्नत्रय ध्यान में होता है, अतः व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है, ऐसा आगे कहा गया है।

सम्यक्त्व एवं आप्त का लक्षण–

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्ता।।40।।

(नियमसार गाथा-5)

जो आप्त-जिनागम-तत्त्वों का, दृढ़तापूर्वक श्रद्धान करे।
उसका निर्मल सम्यग्दर्शन, व्यवहार क्रिया का ज्ञान करे।।
सम्पूर्ण दोष से रहित सकल, गुण सहित आप्त कहलाते हैं।
इनसे अतिरिक्त न आप्त कोई, सर्वज्ञदेव बतलाते हैं।।40।।

अर्थ–आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। सर्वदोषों

से रहित और सकल गुणों से सहित आत्मा ही आप्त कहलाती है।

भावार्थ–सम्पूर्ण दोषों से रहित भगवान ही वीतरागी होते हैं। इनमें से क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष प्रमुख हैं। सर्वगुणों से सहित कहने से सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये दोनों आ जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा कथित वचन ही आगम कहलाते हैं, ऐसा आगे कहेंगे इसलिये वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता इन तीन गुणों से युक्त जो होते हैं, वे ही आप्त हैं और वे अर्हंतदेव ही हो सकते हैं, अन्य कोई नहीं। यहाँ यह व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण द्वितीय प्रकार से कहा गया है।

आगम एवं तत्त्व का लक्षण–

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।41।।

(नियमसार गाथा-8)

सर्वज्ञदेव के मुख से निकले, वचन जिनागम कहलाते।
पूर्वापर दोषों से विरहित, निर्दोष वचन वे बतलाते।।
आगम में जो वर्णित होता, वह ही तत्त्वार्थ कहलाता है।
उसमें ही श्रद्धा करने से, सम्यग्दर्शन कहलाता है।।41।।

अर्थ–आप्त के मुख से निकले हुए वचन ही 'आगम' कहलाते हैं। यह आगम पूर्व–अपर दोषों से रहित और शुद्ध—निर्दोष है। इस आगम में कहे गये 'तत्त्वार्थ' होते हैं।

भावार्थ–सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित वाणी ही जिनवाणी है। उसमें छह द्रव्यों का वर्णन है–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। नियमसार में इन छह द्रव्यों को ही 'तत्त्वार्थ' कहा है। कालद्रव्य को छोड़कर ये ही पाँच द्रव्य 'पाँच अस्तिकाय' कहलाते हैं। नियमसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थ में भी आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने यह सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारप्रधान किया है। आगे सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण–

चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गण, ठाणा जीवस्स णो संति।।42।।

(नियमसार गाथा-42)

चारों गतियों में भ्रमण जन्म, अरु मरण जीव यह करता है।
जर-रोग-शोक-कुल-योनि-मार्गणा, गुणस्थान में रहता है।।

व्यवहारनयाश्रित कर्म उदय से, जीव के ही ये भाव कहें।
लेकिन निश्चयनय से कोई भी, भाव जीव के नहीं कहें।।42।।

अर्थ–चार गति में भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान ये जीव के नहीं हैं।

भावार्थ–नरक आदि गतियों में भ्रमण करना, जन्म, मरण, रोग, शोक, कुल, चौरासी लाख जातियाँ, चौदह जीवसमास, गति, जाति, आदि मार्गणायें और गुणस्थान आदि जो भी जीव के माने गये हैं, वे सब व्यवहारनय से कर्मों के उदय से ही माने गये हैं क्योंकि आगे आचार्यदेव स्वयं नय विवक्षा खोल रहे हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहारनय से ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था है।

शुद्धनय की भावना–

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जय लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया।।43।।

(नियमसार गाथा-48)

जीवात्मा अशरीरी अविनाशी, और अतीन्द्रिय कहलाता।
निर्मल विशुद्ध आत्मा निश्चय-नय से भगवान कहा जाता।।
जैसे लोकाग्र भाग पर स्थित, सिद्ध मुक्त आत्मा माने।
वैसे ही शुद्ध नयाश्रय से, संसारी भी जाते जाने।।43।।

अर्थ–यह जीव शरीर रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, कर्ममल रहित है और विशुद्ध है, जैसे लोक के अग्रभाग पर सिद्ध भगवान स्थित हैं वैसे ही संसार में भी ये जीव शुद्ध हैं, ऐसा जानना।

भावार्थ–शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव सिद्धों के समान ही शुद्ध हैं। यह कथन शक्ति की अपेक्षा से समझना जैसे कि दूध में घी है इत्यादि। व्यवहारनय से अग्नि के संयोग से जल उष्ण है और उष्ण जल भी शुद्धनय से शीतल है, फिर भी उबलते जल को छूने से हाथ जलता ही जलता है अतः व्यवहारनय मिथ्या नहीं है। नहीं तो संसार में ही जीव मुक्त हैं तो पुनः मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ का उपदेश क्यों दिया गया है ?

दोनों नय सापेक्ष हैं–

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा।।44।।

(नियमसार गाथा-49)

जीवों की यही अवस्थाएँ, व्यवहारनयापेक्षा मानी।
इन संसारी पर्यायों का, वर्णन करती है जिनवाणी।।
नय शुद्ध दृष्टि से संसारी, आत्मा भी सिद्धस्वभावी है।
यदि अपनी शक्ति प्रगट कर लें, तो बनते सिद्धस्वभावी हैं।।44।।

अर्थ–ये सभी भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से ही कहे गये हैं। शुद्धनय से तो संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले ही हैं।

भावार्थ–चार गति आदि में भ्रमण करने आदि रूप सभी अवस्थायें व्यवहार नय की अपेक्षा से ही शास्त्र में कही गई हैं। सारा द्वादशांग जीव की इन संसारी पर्यायों का ही वर्णन करता है फिर भी शुद्धनय से संसार में रहते हुये भी सभी संसारी प्राणी सिद्ध ही हैं। वे चाहे नारकी हों या पशु, चाहे भव्य हों या अभव्य। अतः जैन सिद्धान्त के नय कथन को अच्छी तरह समझना चाहिये अन्यथा एकांती निश्चयाभासी होकर अपना ही घात कर लेंगे इसलिये जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आत्मा को शुद्ध करना चाहिये।

दिगम्बर मुनियों के मूलगुण–

पंचय महव्वयाइं, समिदीओ पंच जिणवरूद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा, छप्पि य आवासया लोओ।।45।।

(मूलाचार गाथा-2)

हैं पाँच महाव्रत पाँच समिति, इन्द्रिय निरोध भी पाँच कहे।
छह आवश्यक अरु केशलोच, मुनियों के ये गुण मूल कहे।।
इनसे संयुक्त दिगम्बर मुनि, संयम उपकरण पिच्छि धरते।
शौचोपकरण प्रासुक जल युत, इक कमण्डलु को भी रखते।।45।।

अर्थ–पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक क्रियाएँ और केशलोंच–ये जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के मूलगुण कहे हैं।

भावार्थ–यहाँ बाईस मूलगुणों के नाम हैं, शेष छह अगली गाथा में हैं। इन मूलगुणों के साथ दिगबर मुनि संयम का उपकरण मयूरपंख की पिच्छिका और शौच का उपकरण काठ का कमण्डलु रखते हैं। यह दिगम्बर मुद्रा जिनमुद्रा या अर्हंतमुद्रा कहलाती है। यह मुद्रा तीनों लोकों में पूज्य मानी गयी है।

दिगम्बर मुनियों के शेष मूलगुण–

आचेलकमण्हाणं, खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं, मूलगुणा अट्ठवीसा दु।।46।।

(मूलाचार गाथा-3)

वस्त्रों को त्याग अचेलक हैं, स्नान नहीं वे करते हैं।
क्षितिशयन अदंतधवन खड्गासन, से वे भोजन करते हैं।।
निजपाणिपात्र में एक बार, दिन में आहार ग्रहण करते।
सब मिल अट्ठाइस मूलगुणों का, यतिवर हैं पालन करते।।46।।

अर्थ–आचेलक्य–वस्त्र का त्याग, अस्नान–स्नान नहीं करना, क्षितिशयन–भूमि पर सोना, अदंतधावन–दंत मंजन आदि का त्याग, स्थितिभोजन–खड़े होकर भोजन करना और एकभक्त–दिन में एक बार भोजन करना, पिछली गाथा से सम्बन्धित महाव्रत आदि ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

भावार्थ–श्री जिनेन्द्रदेव ने पाँच महाव्रत से लेकर एकभक्त तक अट्ठाईस मूलगुण कहे हैं, ये मुनियों के मूलगुण हैं। इसमें भूमिशयन से घास, चटाई, पाटा भी लिये जाते हैं और आचेलक्य से सर्व प्रकार के वस्त्र, आभूषण का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा ग्रहण की जाती है।

सावधान मुनि पापों से नहीं बँधते–

मरदु व जिवदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु।।47।।

(प्रवचनसार गाथा-217)

जीवों के मरने-जीने में, यदि यत्नाचार नहीं पाला।
प्राणीवध नहीं हुआ तो भी, हिंसा का पाप कमा डाला।।
जो यत्नाचार सहित मुनिवर, समिती में वर्तन करते हैं।
यदि हिंसा भी हो जाए कदाचित्, नहीं बंध वे करते हैं।।47।।

अर्थ–जीव मरे या जिये किन्तु सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति न करने वाले के नियम से हिंसा होती है और प्रयत्नपूर्वक समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के हिंसामात्र से भी बंध नहीं होता है।

भावार्थ–मुनिराज चार हाथ आगे जमीन देखकर चलते हैं, कदाचित् उनके पैर के नीचे कोई जीव अकस्मात् आकर मर भी जावे तो भी ईर्या समिति से चलते हुए मुनि को पाप बन्ध नहीं होता है और यदि देखकर नहीं चल रहे हैं तब जीव मरे या न मरे किन्तु हिंसा का पाप लग जाता है, अतः सावधानीपूर्वक प्रत्येक क्रिया करनी चाहिए।

मुनियों की क्षमा भावना–

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि।।48।।

(मूलाचार गाथा-43)

सब जीवों पर है क्षमा मेरी, सब जीव मुझे भी क्षमा करें।
सबसे है मैत्री भाव मेरा, नहिं वैर किसी से किया करें।।
ऐसी उत्कृष्ट क्षमावाणी, प्रतिदिन साधूगण करते हैं।
प्रतिक्रमण तथा सामायिक में, निज आत्मशुद्धि को करते हैं।।48।।

अर्थ–सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें। सभी जीवों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है।

भावार्थ–यह श्लोक दशलक्षण पर्व के क्षमा दिवस पर तो पढ़ा ही जाता है, दशलक्षण पर्व के समापन के समय क्षमावणी के दिन भी इसे ही पढ़कर सभी जैन नर-नारी परस्पर में क्षमा-याचना करते हैं और आपस के वैरभाव को भुलाकर मैत्रीभाव को स्थापित कर लेते हैं तथा साधुवर्ग प्रतिदिन दिन में पाँच बार सामायिक और प्रतिक्रमण के समय इसका पाठ करते हैं। यह क्षमा भावना भव-भव के वैरभाव को दूर कर परस्पर में प्रेम-भाव स्थापित करती है।

अट्ठाईस मूलगुण का उपदेश कौन देते हैं ?

बावीसं तित्थयरा, सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण, भवयं उसहो य वीरो य।।49।।

(मूलाचार गाथा-535)

बाईस तीर्थंकर ने सामायिक, संयम का उपदेश दिया।
श्रीवृषभदेव महावीर ने, छेदोपस्थापन संयम भी कहा।।
वृषभेश वीर के शिष्य सरल, अति मूढ़ बुद्धि के धारी थे।
बाकी बाईस जिनवर के शिष्य, उत्तम बुद्धी के धारी थे।।49।।

अर्थ–बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का ही उपदेश देते हैं। भगवान श्री वृषभदेव और भगवान महावीर पुनः छेदोपस्थापना संयम का भी उपदेश देते हैं।

भावार्थ–भगवान ऋषभदेव के शिष्य अतिसरल और जड़स्वभावी थे तथा भगवान महावीर के समय के शिष्य अति कुटिल और मूढ़ हैं अतः ये दोनों ही तीर्थंकर छेदोपस्थापना अर्थात् अट्ठाईस भेदरूप चारित्र का उपदेश देते हैं और भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकर मात्र एक

अभेदरूप सामायिक चारित्र का ही उपदेश देते थे क्योंकि इनके शिष्य बुद्धिमान होते थे।

एकलविहारी मुनि कौन हो सकते हैं ?

तवसुत्तसत्तएगत्त-भावसंघडणधिदिसमग्गो य।
परिआआगमबलिओ, एयविहारी अणुण्णादो।।50।।

(मूलाचार गाथा-149)

तप सूत्र सत्त्व एकत्वभाव, संहनन धैर्य संयुत मुनिवर।
एकलविहार कर सकते हैं, इनसे संयुत दीक्षित यतिवर।।
ये जिनकल्पी कहलाते हैं, इनको नहिं कोई डिगा सकता।
ये परमतपस्वी महामुनी, गुणपार न कोई पा सकता।।50।।

अर्थ–तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किए गए हैं।

भावार्थ–उत्तम संहनन से सहित तपस्वी, अंग-पूर्व आदि के ज्ञानी महामुनि ही एकलविहारी हो सकते हैं, किन्तु आजकल के हीनसंहनन वाले अल्पज्ञानी, धैर्य आदि गुणों से रहित मुनि एकलविहारी नहीं हो सकते हैं। ऐसे मुनियों को संघ में ही रहना चाहिये।

आज के मुनि एकलविहारी नहीं हो सकते–

सच्छंदगदागदी-सयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य, मा मे सत्तूवि एगागी।।51।।

(मूलाचार गाथा-150)

आगमन गमन सोएँ बैठें, आहार आदि को ग्रहण करें।
मलमूत्र विसर्जन आदि कार्य में, जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करें।।
स्वच्छंद रुचि से जिनकी, वचनालापों में वृत्ति होवे।
ऐसा कोई मेरा शत्रू, एकलविहारी मुनि नहीं होवे।।51।।

अर्थ–गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मल-मूत्रादि विसर्जन करना, इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है और बोलने में भी स्वच्छंद रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे।

भावार्थ–जो मुनि स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है, वह भले ही मेरा शत्रु ही क्यों न हो किन्तु फिर भी वह एकलविहारी न बने, ऐसी श्रीकुन्दकुन्ददेव की

आज्ञा है। यह आज्ञा आज के सभी मुनि-आर्यिकाओं को पालन करनी चाहिये।

सरागसंयमी मुनियों की चर्या–

वंदणणमंसणेहिं, अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
स्त्रमणेसु समावणओ, ण णिंदिया रायचरियम्मि।।52।।

(प्रवचनसार गाथा-247)

मुनियों को वंदन नमस्कार, उठकर सम्मान आदि करना।
उनके पीछे-पीछे चलना, इत्यादि विनयवृत्ति करना।।
रागी मुनियों के लिये यही, उपचार विनय श्रेयस्कर है।
कर्त्तव्य मानकर करने से, ये पुण्य कार्य क्षेमंकर हैं।।52।।

अर्थ–सराग चारित्र की अवस्था में अपने पूज्य मुनियों की वंदना करना, नमस्कार करना, उन्हें आते हुए देखकर खड़े होना, उनके जाते समय पीछे-पीछे चलना, इत्यादि विनय प्रवृत्ति करना तथा उनके श्रम-थकावट को दूर करना यह निंदित नहीं है।

भावार्थ–छठे गुणस्थानवर्ती मुनि-मुनियों की यथायोग्य वंदना करें, उन्हें नमस्कार करें, उन्हें आते देखकर विनय से उठकर खड़े होकर उनका स्वागत करें, इत्यादि प्रवृत्तियाँ सरागचारित्रधारी मुनियों के लिये उचित ही हैं। जब मुनियों के लिये यह मार्ग है, तब श्रावकों के लिये तो मुनियों की विनय भक्ति, वंदना आदि करना कर्त्तव्य ही है, ये श्रीकुन्दकुन्ददेव के वाक्य हैं।

शिष्यों का संग्रह आदि मुनियों का कर्त्तव्य है–

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य।।53।।

(प्रवचनसार गाथा-248)

दर्शन व ज्ञान उपदेश शिष्य, संग्रह उनका पोषण करना।
जिनवर की पूजा आदि करो, जन-जन को सम्बोधित करना।।
यह सब शुभोपयोगी मुनियों की, चर्या मानी जाती है।
यह मोक्षमार्ग की प्रमुख क्रिया, शास्त्रों से जानी जाती है।।53।।

अर्थ–दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनि–शुभोपयोगी मुनियों की चर्या है।

भावार्थ–''रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव

पोषणमशनपानादिचिंता।'' रत्नत्रय की आराधना में तत्पर शिष्यों का संग्रह करना और उनके आहार आदि की चिंता करना इत्यादि संघ व्यवस्था संभालना यह सरागी मुनि आचार्यों की चर्या है, इसके बिना मोक्षमार्ग चल नहीं सकता है। ऐसे ही श्रावकों के लिये दान-पूजा का उपदेश देना शास्त्रसम्मत ही है।

मुनिनिंदक के सम्यग्दर्शन नहीं है–

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं, हवेइ णियमेण जिनवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ, पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।।54।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-47)

जिनदेव कथित मुनि लिंग नियम, ये सिद्धि सुख का साधन है।
जो इसे ग्रहण कर लेते हैं, वे ही बन जाते पावन हैं।।
जिन जीवों को यह मुनिमुद्रा, नहिं स्वप्न मात्र में रुचती है।
वह भव वन में ही भ्रमण करें, उनकी नैया नहिं तिरती है।।54।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट जिनमुद्रा–दिगम्बर मुद्रा नियम से सिद्धिसुख स्वरूप है। जिन जीवों को यह मुनिमुद्रा स्वप्न में भी नहीं रुचती है, वे संसाररूपी गहन वन में ही भ्रमण करते रहते हैं।

भावार्थ–जो दिगम्बर मुनियों के प्रति स्वप्न में भी द्वेष या अनादर भाव करते हैं, वे सम्यग्दर्शन से दूर हैं, उनका संसार भ्रमण नष्ट नहीं होगा क्योंकि यह मुनि-मुद्रा ही मोक्ष के लिये कारण है। मुनि-निंदा और सम्यग्दर्शन ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते, इनमें परस्पर विरोध है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।[1]

पंचमकाल के अन्त तक मुनि रहेंगे–

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।55।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-76)

इस भरतक्षेत्र में आज भी, पंचम काल में मुनिवर दिखते हैं।
आत्मस्वभाव में रत होकर, वे धर्मध्यान को करते हैं।।
जो नहीं मानते मुनि उन्हें, अज्ञानी वे कहलाते हैं।
चउविध संघ पंचमकाल, अंत तक रहेगा श्रुत बतलाते हैं।।55।।

अर्थ–इस भरतक्षेत्र में आज दुःषमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित हुए साधु को धर्मध्यान होता है, जो उन्हें नहीं मानते हैं, वे अज्ञानी हैं।

1. जयधवला प्रारब्ध पुस्तक पृष्ठ ...

भावार्थ–आज भी पंचमकाल में भावलिंगी दिगम्बर मुनि हैं और पंचमकाल के अन्त तक रहेंगे, ऐसा जो नहीं मानते हैं और आज के मुनियों को नमस्कार नहीं करते हैं वे अज्ञानी जिनमत से बहिर्भूत हैं। श्रीकुन्दकुन्ददेव के वचनों को नहीं मानने से मिथ्यादृष्टि हैं। पंचमकाल के अन्त तक मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकारूप से चतुर्विध संघ रहेगा, ऐसा तिलोयपण्णत्ति में भी कहा है।[1]

आज के मुनि लौकांतिक देव तक हो सकते हैं–

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।56।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-77)

तीनों रत्नों से शुद्ध दिगम्बर, मुनि आज भी होते हैं।
आत्मा को ध्याकर इन्द्रों का, पद लौकान्तिक भी होते हैं।।
वहाँ से आकर नरभव पाकर, निर्वाण प्राप्त वे कर लेंगे।
इस युग में भी इकभव अवतारी, बनने वाले गुरु होंगे।।56।।

अर्थ–आज भी तीन रत्न से शुद्ध–दिगम्बर मुनि आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं पुनः वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–श्रीकुन्दकुन्ददेव के सामने भी कुछ ऐसे लोग होंगे कि मुनियों को नहीं मानते होंगे, तभी उन्होंने ऐसा कहा है कि आज भी रत्नत्रय से पवित्र मुनि होंगे, वे धर्मध्यान के प्रभाव से इन्द्रपद तो क्या लौकांतिक देव भी हो सकते हैं, क्योंकि आज पंचमकाल में यहाँ से मोक्ष नहीं है अतः से वहाँ से आकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। इतने विषेश चारित्रधारी मुनि भावलिंगी नहीं तो भला कैसे होंगे ? अतः आज भी सच्चे मुनि हैं।

सुखिया जीवन का तत्त्वज्ञान टिक नहीं पाता है–

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।57।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-62)

सुखिया जीवन में किया गया, जो तत्त्वज्ञान सुख देता है।
वह ही सुख थोड़ा दुःख आने पर, ज्ञान नष्ट कर देता है।।

1. तिलोयपण्णत्ति ...

इसलिये यथाशक्ति दुःखों में, आत्मा का चिन्तवन करें।
जिससे कि परिषह आने पर भी, वे समाधि में रमण करें।।57।।

अर्थ–सुख में भावित किया गया तत्त्वज्ञान दुःख के आने पर नष्ट हो जाता है अतः योगी यथाशक्ति दुःखों में अपनी आत्मा की भावना करें।

भावार्थ–सुखिया जीवन में की गयी तत्त्व की चर्चाएँ दुःखों के आ जाने पर नहीं टिक पाती हैं, अतः मुनियों को दुःखों को आमंत्रित कर-करके व्रत, उपवास, कायक्लेश आदि कर-करके आत्मतत्त्व की भावना करते रहना चाहिएँ जिससे उपसर्ग और परिषहों के आने पर भी तत्त्वज्ञान काम आ सके और अंतिम समाधि की सिद्धि हो सके।

–

धुवसिद्धि तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
पाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तो वि।।58।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-60)

तीर्थंकर की सिद्धि निश्चित, वे चार ज्ञानधारी होते।
तो भी वे तपस्या करते हैं, उनके बिन सिद्ध नहीं होते।।
इसलिये ज्ञान से युत होकर, तुम भी कुछ तपश्चरण कर लो।
तप का अभ्यास बढ़ा करके, निर्जरा कर्म की भी कर लो।।58।।

अर्थ–तीर्थंकर का मोक्ष जाना निश्चित है। चार ज्ञानधारी हैं फिर भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर तुम्हें ज्ञानसहित होकर भी नियम से तपश्चरण करना चाहिये।

भावार्थ–जब तीर्थंकर देव नियम से मोक्ष जाने वाले ही हैं और दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान भी हो जाता है फिर भी वे तपश्चरण करते ही हैं। भगवान आदिनाथ ने एक हजार वर्ष तक तप किया था, अतः हमारा-आपका भी कर्त्तव्य है कि तपश्चरण का अभ्यास बढ़ाते ही रहें। इससे कर्मों की भी निर्जरा होती है और कष्टों में तत्त्वज्ञान बना रहता है।

सच्चे दिगम्बर मुनि चलते-फिरते भगवान हैं–

भिक्खं वक्कं हिययं, सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू, भणिओ जिणसासणे भयवं।।59।।

(मूलाचार गाथा-1006)

जो भिक्षा वचन और मन का, शोधन कर नित्य विचरते हैं।
वे ही साधू कहलाते हैं, अर्हन्मुद्रा को धरते हैं।।
जिनशासन में ऐसे सुस्थित, मुनिवर भगवान कहे जाते।
तीनों लोकों में पूज्य यही, सिद्धीकान्ता को हैं पाते।।59।।

अर्थ–जो आहार, वचन और हृदय—मन का शोधन करके नित्य ही आचरण करते हैं, वे ही साधु हैं। जिनशासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान कहे गये हैं।

भावार्थ–आहारशुद्धि, वचनशुद्धि और भावशुद्धि से सहित मुनि यहाँ लोक में विचरण करते हुए भी 'भगवान' हैं, क्योंकि ये 'जिनमुद्राधारी' हैं, अतः तीनों लोकों में पूज्य हैं।

व्यवहारचारित्र के बाद ही निश्चयचारित्र होता है–

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।60।।

(नियमसार गाथा-76)

ऐसी व्यवहार भावना से, व्यवहारिक चारित होता है।
जिनवर की भक्ती से सराग, चारित्र मुनि के होता है।।
इसके आगे निश्चयचारित्र का, निश्चयनय से कथन करूँ।
दोनों प्रकार चारित्र धार मैं, मुनि बन करके कब विचरूँ।।60।।

अर्थ–इस पूर्वकथित भावना से व्यवहारनय का चारित्र होता है, जब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

भावार्थ–नियमसार में चौथे अधिकार में तेरह प्रकार के चारित्र का और पंचपरमेष्ठी की भक्ति का वर्णन करके आचार्य देव ने कहा है कि यहाँ तक मैंने व्यवहारनय का चारित्र कहा है, अब आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारचारित्रधारी मुनि ही निश्चयचारित्र के पात्र हो सकते हैं, न कि गृहस्थ। स्वयं कुन्दकुन्ददेव भी व्यवहार-चारित्रधारी महामुनि थे, अतः उन्हीं के ग्रन्थों को पढ़कर मुनियों को नहीं मानना श्रीकुन्दकुन्द देव की ही अवमानना है।

(4) वीतराग चारित्र

निश्चयचारित्र किनके होता है ?

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।61।।

(नियमसार गाथा-152)

निश्चयनय आश्रय से जो, प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ होती हैं।
निश्चयचरित्रधारी मुनि के वे, सभी क्रियाएँ होती हैं।।
इस हेतु उन्हें ही वीतराग, मुनि की संज्ञा मिल जाती है।
श्रेणी में चढ़कर क्षण भर में, अर्हंत अवस्था आती है।।61।।

अर्थ–निश्चयनयाश्रित प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करने वाले के निश्चयनय का चारित्र होता है, इसी हेतु मुनि वीतराग चारित्र में स्थित होते हैं।

भावार्थ–पूर्व में निर्विकल्प ध्यान को ही निश्चय-प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान आदि कहा है अतः ये निश्चयनयाश्रित चारित्र शुद्धोपयोग में ही होता है। यह सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है और ये सप्तम आदि गुणस्थान भी छठे गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनि के ही सम्भव हैं, गृहस्थों के नहीं।

आज के मुनि क्या करें ?

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जदि, सद्दहणं चेव कायव्वं।।62।।

(नियमसार गाथा-154)

यदि करना शक्य तुम्हें है तो, प्रतिक्रमण ध्यानमय ही कर लो।
जब तक करने की शक्ति नहीं, तब तक केवल श्रद्धा कर लो।।
इस हीन संहनन से तुमको, अध्यात्म ध्यान संभव नहिं है।
शुद्धात्मा की श्रद्धा करना, इस युग में भी अशक्य नहिं है।।62।।

अर्थ–यदि करना शक्य हो तो तुम्हें प्रतिक्रमण आदि ध्यानमय करना चाहिये और जब तक शक्ति नहीं है तब तक श्रद्धान ही करना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथा में टीकाकार ने कहा है कि पंचमकाल में हीनसंहनन होने से अध्यात्मध्यान सम्भव नहीं है, अतः अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ही करना चाहिये। हाँ, दिगम्बर मुनि को सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पध्यान सम्भव भी है किन्तु गृहस्थ के तो निर्विकल्प ध्यान असम्भव ही है, अतः शुद्धात्मा की

श्रद्धा और भावना ही करना उचित है।

चारित्र ही धर्म है–

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो।।63।।

(नियमसार गाथा-7)

चारित्र नियम से धर्म कहा, वह धर्म सदा समतामय है।
मिथ्यात्व मोह अरु क्षोभ रहित, आतम स्वभाव समतामय है।।
ऐसा ही यथाख्यात चारित, शुद्धात्मरूप कहलाता है।
यह साध्य तथा साधन सराग, चारित्र भाव कहलाता है।।63।।

अर्थ–नियम से चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है वह समता-भाव ही है, ऐसा कहा गया है। मोह-मिथ्यात्व तथा क्षोभ, राग-द्वेष से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वही समता भाव है।

भावार्थ–यहाँ चारित्र को ही धर्म कहा है। टीकाकारों ने चारित्र के दो भेद किये हैं–सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के मुनियों का चारित्र सरागचारित्र है। इससे आगे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में वीतरागचारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व, राग-द्वेष से रहित शुद्धसाम्यपरिणामरूप यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह साध्य है और सरागचारित्र साधन है।

धर्म से सहित आत्मा ही धर्म है–

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तह्मा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो।।64।।

(नियमसार गाथा-8)

जिस समय द्रव्य जिस रूप, परिणमन करके परिणत होता है।
वह उसी काल में उसी रूप, परिणमता तन्मय होता है।।
इसलिये धर्म से परिणत आत्मा, धर्मरूप बन जाता है।
जैसे घृत युत मिट्टी का घट भी, घृत का घट कहलाता है।।64।।

अर्थ–द्रव्य जिस काल में जिस रूप से परिणमन करता है, वह उस काल में उसी रूप ही हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है इसलिये धर्म से परिणत आत्मा धर्म ही हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ–शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की अपेक्षा धर्म के दो भेद हैं अथवा एकदेश चारित्र और सकलचारित्र की अपेक्षा भी दो भेद होते हैं। यह आत्मा जब

जिस धर्म से परिणत होता है वह उस समय तन्मय—तद्रूप ही माना जाता है। यहाँ तो टीकाकारों ने मुनियों के सरागचारित्र और वीतरागचारित्र को ही लिया है।

निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण–

धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।।65।।

(पंचास्तिकाय गाथा-160)

धर्मादिक द्रव्यों की श्रद्धा, करना सम्यक्त्व कहाता है।
अंगादिपूर्व का ज्ञान करो, वह सम्यग्ज्ञान कहाता है।।
तप-संयम में प्रवृत्ति करना, सम्यक्चारित्र कहलाता है।
इन तीनों से युत मुक्ति का, व्यवहार मार्ग बन जाता है।।65।।

अर्थ–धर्म, अधर्म आदि का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, अंग-पूर्व का ज्ञान होना ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

भावार्थ–वीतराग सर्वज्ञदेव प्रणीत तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान ये दोनों मुनि तथा गृहस्थ दोनों में होते हैं किन्तु अंग-पूर्व का ज्ञान मुनियों को ही होता है। आर्यिकाओं को अंग का ज्ञान हो सकता है, पूर्व का नहीं। पंचमहाव्रत आदि चारित्र छठे-सातवें गुणस्थान योग्य मुनियों के होता है और श्रावक के दान, शील, पूजा, उपवासरूप या ग्यारह प्रतिमारूप चारित्र होता है। मुनियों का व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय असम्भव है, अतः यह व्यवहार साधन है।

व्यवहार मोक्षमार्ग से साध्य निश्चयमोक्षमार्ग का कथन–

णिच्चयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।66।।

(पंचास्तिकाय गाथा-161)

जो आत्मा इस रत्नत्रय में, एकाग्र परिणती करता है।
उसमें ही तन्मय होकर वह, नहिं अन्य कार्य कुछ करता है।।
इच्छापूर्वक तजता भी नहिं, वह निश्चय मोक्षमार्ग जानो।
जैसे फल आने के पहले, फूलों को तुम कारण मानो।।66।

अर्थ–जो आत्मा इन तीनों—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से एकाग्र परिणत होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता ही है, वह निश्चय से मोक्षमार्ग है।

भावार्थ–''अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्नः।'' इसलिये निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्यसाधन भाव अतिशयरूप से

घटित होता है। मुनि ही व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर एकाग्रध्यान में स्थित होकर निश्चय रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग में परिणत हो जाते हैं। जैसे फल आने के लिये फूल कारण है, वैसे ही निश्चय रत्नत्रय के लिये व्यवहार रत्नत्रय कारण है। यहाँ ऐसा क्रम समझने के लिये ये दो गाथाएँ हैं।

संवर का क्रम–

सुहजोगस्स पवित्ती, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगेण संभवदि।।67।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-63)

जब जीव मन, वचन और काय की, शुभ प्रवृत्ति को करता है।
तब अशुभ योग का स्वयं रूप से, ही निरोध वह करता है।।
शुद्धोपयोग में वही जीव जब, स्थिर चित्त हो जाता है।
तब शुभ योगों का भी निरोध, स्वयमेव जीव कर पाता है।।67।।

अर्थ–शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ योग का निरोध करती है, पुनः शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ योग का निरोध संभव है।

भावार्थ–अशुभ क्रियायोग हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों के त्याग से पुण्य होता है और पुण्य से शुभोपयोग होता है। यह ध्यान में ही होता है, अतः महामुनि के ही शुद्धोपयोग के द्वारा पाप-पुण्य दोनों का संवर हो जाता है।

तीन गुप्ति सहित मुनि ही ज्ञानी हैं–

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण।।68।।

(प्रवचनसार गाथा-238)

अज्ञानी आत्मा उन कर्मों को, लाखों भव में नष्ट करें।
ज्ञानी आत्मा उन कर्मों को, उच्छ्वास मात्र में नष्ट करें।।
क्योंकि वे तीन गुप्तियों से, संयुक्त महामुनि होते हैं।
अपने शुद्धात्म ध्यान बल पर, वे ही कर्मों को धोते हैं।।68।।

अर्थ–अज्ञानी जीव जितने कर्मों को लाखों-करोड़ों भवों में नष्ट करता है, तीन गुप्तियों से सहित ज्ञानी जीव उतने कर्मों को उच्छ्वासमात्र में नष्ट कर देता है।

भावार्थ–यहाँ 'ज्ञानी' शब्द से तीन गुप्ति से सहित, शुद्धोपयोगी महाध्यानी महामुनि को ही लेना चाहिये न कि शब्दशास्त्र के ज्ञानी, जैसा कि 'तिहिं गुत्तो' पद है, अतः यह लक्षण चतुर्थकालीन उत्तमसंहनन वाले जिनकल्पी महामुनि में ही

घटेगा। उससे पूर्व आज के मुनियों को शुद्धध्यान की भावना करना ही शक्य है।

स्वसमय-परसमय का लक्षण–

जीवो चरित्तदंसण, णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेस-ट्ठियं च तं जाण परसमयं।।69।।

(समयसार गाथा-2)

जो आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान, चरित में सुस्थित होते हैं।
उनको ही तुम स्वसमय जानो, वे निज में स्थित होते हैं।।
जो आत्मा पुद्गल कर्म प्रदेशों, में ही स्थित रहते हैं।
उन जीवों को अध्यात्म शास्त्र, "परसमय" शब्द से कहते हैं।।69।।

अर्थ–दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जो जीव हैं, उसे ही तुम स्वसमय जानो और पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित जो जीव हैं, उन्हें 'परसमय' समझो।

भावार्थ–केवलज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ जो भेद विज्ञानरूप निश्चय रत्नत्रय है, जो कि बारहवें गुणस्थान में स्थित वीतरागचारित्रस्वरूप है, वही 'स्वसमय' है, उसके अतिरिक्त सभी जीव 'परसमय' हैं, अथवा शुद्धात्मा का जो स्वरूप है, वही 'स्वसवमय' है, शेष नर-नारक आदि पर्यायों में स्थित जीव 'परसमय' हैं।

स्वरचित या स्वसमय का लक्षण–

जो सव्वसंगमुक्को, णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो।।70।।

(पंचास्तिकाय गाथा-158)

सम्पूर्ण परिग्रह तजकर जो, एकाग्रमना हो जाते हैं।
निश्चल होकर निज आत्मा के, स्वाभाविक भाव जगाते हैं।।
उनका ही दर्शन और ज्ञान, स्वचरित आचरण कहाता है।
वह निर्विकल्प ध्यानी बनकर, निश्चयरत्नत्रय पाता है।।70।।

अर्थ–जो सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर एकाग्रमन होता हुआ स्वभाव से निश्चल होकर आत्मा को जानता है और देखता है, वह जीव स्वचरित का आचरण करता है।

भावार्थ–जो परिग्रहरहित मुनि आत्मध्यान में निश्चल होकर अपनी शुद्ध आत्मा को ही देखते-जानते हैं, वे स्वचरित में लीन हुए स्वरूपाचरण चारित्रधारी या स्वसमय कहलाते हैं। जो योगीन्द्र निर्विकल्पध्यानी होते हैं, वे निश्चय

रत्नत्रयधारी हैं। **"अतएव उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।"** इसलिये परमेश्वर की तीर्थ-प्रवर्तना दोनों नयों के आश्रित ही हैं।

बहिरात्मा-अन्तरात्मा परसमय और परमात्मा स्वसमय हैं–

बहिरंतरप्पभेयं, परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पा सगसमयं, तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे।।71।।

(रयणसार गाथा-128)

जिनवर ने बहिरात्मा अन्तर, आत्मा दो भेद बताये हैं।
इन दोनों ही भेदों को जिनवर, ने परसमय बताए हैं।।
परमात्मा को स्वसमय माना, वे निज में स्थित रहते हैं।
अब इनको ही गुणस्थानों में, श्रीकुन्दकुन्द गुरु कहते हैं।।71।।

अर्थ–श्री जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा और अंतरात्मा इन दोनों भेदों को 'परसमय' कहा है और परमात्मा 'स्वकसमय' 'स्वसमय' है। अब इन भेदों को गुणस्थानों में समझो।

भावार्थ–आत्मा के तीन भेद हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। समय के दो भेद हैं–परसमय और स्वसमय। गुणस्थानों के 14 भेद हैं–मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनसे परे सिद्ध भगवान होते हैं।

गुणस्थानों में स्वसमय-परसमय–

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा, तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
सत्तेत्तिमज्झिमंतर, खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।72।।

(रयणसार गाथा-129)

मिथ्यात्व मिश्र सासादन में, तरतमता से बहिरात्मा हैं।
अविरत सम्यग्दृष्टी प्राणी तो, जघन्य अन्तर आत्मा हैं।।
आगे के सात गुणस्थानों तक, मध्यम अन्तर आत्मा हैं।
हैं क्षीणमोह उत्तम एवं दो, और सिद्ध परमात्मा हैं।।72।।

अर्थ–मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थान तक के जीव तरतमता से बहिरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं। सात गुणस्थान तक—पाँचवें गुणस्थान वाले से ग्यारहवें तक मध्यम अंतरात्मा हैं और क्षीणमोह—बारहवें गुणस्थान वाले उत्तम अंतरात्मा हैं तथा तेरहवें-चौदहवें

गुणस्थान वाले और सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

भावार्थ–बारहवें गुणस्थान तक के महामुनि भी 'परसमय' ही हैं। अर्हंत-सिद्ध भगवान स्वसमय हैं, ऐसा समझना।

विषयों की कथा परिचित है, शुद्धात्मा कथा अपरिचित–

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।73।।

(समयसार गाथा-4)

श्रुत-परिचित अरु अनुभूत काम-भोगों की सभी कथाएँ हैं।
इसलिये सुलभ हैं क्योंकि अनन्तों, बार सुनी चर्चाएँ हैं।।
लेकिन एकत्व शुद्ध निश्चय की, उपलब्धी नहिं सुलभ हुई।
क्योंकि शुद्धात्मा का परिचय, नहिं हुआ अतः दुर्लभ ही रही।।73।।

अर्थ–काम और भोग से सम्बन्धित कथा सभी जीवों के सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई है इसलिए सुलभ है किन्तु एक शुद्ध और सबसे भिन्न की उपलब्धि सुलभ नहीं है।

भावार्थ–सभी ने अनादिकाल से लेकर आज तक काम-भोगों की चर्याएँ अनंत बार सुनी हैं, परिचय किया है और अनंतों बार ही उनको भोगा है किन्तु रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध एक आत्मा का स्वरूप न तो सुना ही है, न परिचय में लिया है और न अपनी उस एक आत्मा का अनुभव ही किया है और न आत्मज्ञानी मुनियों की उपासना ही की है इसीलिये इस स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र भेद व्यवहार से हैं, निश्चय से नहीं–

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।74।।

(समयसार गाथा-7)

ज्ञानी आत्मा के दर्शन-ज्ञान, चारित्र भाव जो माने हैं।
वे केवल व्यवहारिक नय से, आत्मा के भेद बखाने हैं।।
निश्चयनय से उसके न ज्ञान, नहिं दर्शन और न चारित है।
वह ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्मा, ऐसा आगम प्रतिपादित है।।74।।

अर्थ–ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र–ये तीन भाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चयनय से तो उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध ही है।

भावार्थ–यहाँ व्यवहारनय कर्म की उपाधि को कहने वाला नहीं है, प्रत्युत् आत्मा के अनंत गुणों को भेदरूप कहने वाला है और निश्चयनय मात्र अभेद ज्ञानमात्र आत्मा को कहने वाला है, अतः यह व्यवहारनय असत्य नहीं है यह शुद्ध आत्मा 1008 या अनन्त गुणों को मानता है किन्तु अभेदग्राही शुद्ध निश्चयनय से आत्मा एक ज्ञानमात्र ही है।

आत्मा ज्ञायकमात्र है–

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणुगो दु जो भावी।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव।।75।।

(समयसार गाथा-6)

जो आत्मा का ज्ञायक स्वभाव, वह नहिं प्रमत्त-अप्रमत्तरूप।
इसलिये शुद्ध कहते उसको, वह कभी न होता अन्य रूप।।
द्रव्यार्थिक शुद्ध नयाश्रय से शुभ, अशुभ भाव नहिं करता है।
बस इसीलिए उन रूप भाव में, कभी नहीं परिणमता है।।75।।

अर्थ–जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है, इस प्रकार से उसे शुद्ध कहते हैं तथा जो यह ज्ञायक रूप से जाना गया है, वह वही है, अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ–जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुभ-अशुभ भावरूप परिणमन नहीं करने से न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। प्रमत्त से यहाँ पहले से छठे गुणस्थान तक लेना और अप्रमत्त से सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक लेना। अतः यह ज्ञायक भाव गुणस्थानों से परे शुद्ध एक ज्ञानमात्र है, यही शुद्धात्मा है, ज्ञाता है ऐसा समझना। पूरे समयसार में यह एक ज्ञानमात्र आत्मा का ही वर्णन किया गया है।

व्यवहार के बिना निश्चय नहीं है–

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं।।76।।

(समयसार गाथा-8)

जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छों की, भाषा बिन नहिं समझा सकते।
वैसे ही व्यवहारी जन को, परमार्थ नहीं बतला सकते।।
उनको तो व्यवहारिक नय द्वारा, ही समझाया जा सकता।
क्रम-क्रम से संयम पालन कर, रत्नत्रय पाया जा सकता।।76।।

अर्थ–जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना कुछ ग्रहण कराना–समझाना शक्य

नहीं है, वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करना भी अशक्य ही है।

भावार्थ–आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र–ये तीन गुण हैं, इस व्यवहारनय से ही आत्मा को एक अखण्ड ज्ञानमात्रस्वरूप तक पहुँचाया जा सकता है, क्योंकि पहले भेदरत्नत्रय को ग्रहण कर ही मुनि अभेदरत्नत्रयरूप एक परमार्थ का ध्यान कर सकते हैं। बिना मुनि बने कोई भी शुक्लध्यानी नहीं हो सकते हैं, ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

व्यवहार अभूतार्थ है, निश्चय भूतार्थ–

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिहो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।77।।

(समयसार गाथा-11)

व्यवहार कहा है अभूतार्थ, भूतार्थ शुद्धनिश्चयनय है।
ऐसा मुनियों ने दिखलाया, व्यवहार और निश्चयनय है।।
भूतार्थ नयाश्रित हुआ जीव, निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।
यह वीतराग मुनिवर में ही, घट सकती सम्यक् दृष्टि है।।77।।

अर्थ–व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा मुनियों ने दिखलाया है। भूतार्थ के आश्रित हुआ जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ–श्री जयसेनाचार्य ने व्यवहारनय के भूतार्थ और अभूतार्थ दो भेद तथा शुद्धनय के भी भूतार्थ और अभूतार्थ ऐसे दो भेद किये हैं अर्थात् भेदग्राही व्यवहार और उपाधिग्राही व्यवहार तथा शुद्ध निश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय ऐसे चार भेद किये हैं। आगे अनेक स्थलों पर इनके प्रयोग किये गये हैं तथा शुद्धनय का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कहने से वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेना चाहिये क्योंकि व्यवहार के आश्रित जीव व्यवहार या सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं।

व्यवहारनय कहाँ तक प्रयोजनीभूत है ?

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमेट्ठिदा भावे।।78।।

(समयसार गाथा-12)

शुद्धात्मा को कहने वाला, जो शुद्ध नयाश्रय माना है।
वह परमभावदर्शी मुनियों ने, ही सचमुच पहचाना है।।
जो अपरमभावों में मुनि हैं, उनका व्यवहार सहारा है।
क्रम से आश्रय लेने वालों ने, जीवन स्वयं सुधारा है।।78।।

अर्थ–शुद्ध आत्मा को कहने वाला जो शुद्धनय है, वह परमभावदर्शी महापुरुषों के द्वारा जानने योग्य है पुनः जो अपरमभाव में स्थित हैं, उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।

भावार्थ–अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प ध्यान में स्थित बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि शुद्धनय में स्थित हैं। अविरती श्रावक और छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज इन सबके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के सभी जीव अपरमभाव में स्थित हैं। श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है कि व्यवहारनय से तीर्थ चलता है और निश्चयनय से तत्त्व को समझा जाता है।

समयसार में सम्यक्त्व का लक्षण–

भूयत्येणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।79।।

(समयसार गाथा-13)

भूतार्थ से जाने जीव-अजीव, अरु पुण्य-पाप-आस्रव-संवर।
हैं बंध-निर्जरा और मोक्ष ये, सब पदार्थ माने सम्यक्।।
ये नव पदार्थ सम्यक्त्व प्राप्ति के, लिये सदा सहकारी हैं।
इन पर श्रद्धा करते रहने से, मुक्त हुए संसारी हैं।।79।।

अर्थ–भूतार्थ—निश्चय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव-पदार्थ ही सम्यक्तव हैं।

भावार्थ–ये नव-पदार्थ सम्यक्त्व के विषय हैं और कारण हैं इसलिये कारण में कार्य का उपचार कर देने से ये ही सम्यक्त्व कहे गये हैं किन्तु निश्चय से आत्मा का श्रद्धानुरूप परिणाम ही सम्यक्त्व है। ये नव-पदार्थ तीर्थवंदना के निमित्त होने से भूतार्थ हैं और महामुनि के निर्विकल्पध्यान में अभूतार्थ हो जाते हैं क्योंकि वहाँ एक शुद्ध आत्मा ही अनुभव में आता है। ऐसे ही प्रमाण, नय, निक्षेप भी आगे ध्यान में अभूतार्थ हो जाते हैं। यहाँ भूतार्थ से अशुद्ध निश्चयनय लेना चाहिये क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से नवतत्त्वों की व्यवस्था ही नहीं है।

अज्ञानी जीव का लक्षण–

कम्मे णोकम्मम्हि य, अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।80।।

(समयसार गाथा-19)

जो कर्म और नोकर्म आदि में, आत्म भावना होती है।
मैं कर्मरूप हूँ कर्म मेरे यह, अहम् भावना होती है।।
जब तक ऐसी बुद्धी रहती, तब तक अज्ञानी रहता है।
सम्यक् बुद्धी के आते ही, वह ज्ञानी भी बन सकता है।।80।।

अर्थ–कर्म और नोकर्म—शरीर आदि में 'यह मैं हूँ और ये मेरे हैं' जब तक ऐसी बुद्धि रहती है, तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी ही रहता है।

भावार्थ–शरीर और द्रव्यकर्म आदि को अपने समझना 'यह शरीर ही मैं हूँ' आत्मा और शरीर में एकरूपता है भेद नहीं है ऐसी धारणा अज्ञान ही है–इसी का नाम मिथ्यात्व है। इससे अर्थ यह निकलता है कि जो शरीर और आत्मा को एक नहीं मानते, वे ज्ञानी हैं। आगे इसे ही पूर्वपक्ष में रखकर नयों की अपेक्षा समाधान दे रहे हैं।

तीर्थंकरों की स्तुति मिथ्या है क्या ?

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो।।81।।

(समयसार गाथा-26)

यदि जीव शरीर नहीं है तो, तीर्थंकरादि स्तुति व्यर्थ।
आचार्यों के भी जो शरीर का, वंदन वह सब हुआ व्यर्थ।।
इसलिये आत्मा और शरीर को, एक रूप मैं समझ रहा।
हे गुरुवर! यदि ऐसा नहिं तो, जिनवर शरीर क्यों पूज्य कहा ?।81।।

अर्थ–यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति है, वह सभी मिथ्या हो जावेगी इसलिये आत्मा और शरीर एकरूप ही हैं, ऐसा शिष्य ने अपना पक्ष रखा है।

भावार्थ–यदि जीव और शरीर भिन्न हैं, एक नहीं हैं तो पुनः **'द्वौ कुँदेंदुतुषारहारधवलौ'** दो तीर्थंकर श्वेत वर्ण के हैं इत्यादि प्रकार से जो तीर्थंकरों की स्तुति है और **'देसकुलजाइसुद्धा'** जो देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं ऐसे आचार्य मेरा मंगल करें, इत्यादि स्तुतियाँ क्यों की जाती हैं ? ये स्तुतियाँ व्यर्थ ही हो जाएँगी ? ऐसा शिष्य के कहने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं।

नय विवक्षा ही सम्यग्दर्शन है–

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि इकट्ठो।।82।।

(समयसार गाथा-27)

व्यवहारिक नय यह कहता है, जीवरू शरीर तो इक ही है।
लेकिन निश्चयनय कहता है, आत्मा-शरीर नहिं एक रहे।।
निश्चय से तीनों कालों में ये, एक नहीं हो सकते हैं।
लेकिन व्यवहार बिना जिनवर की, स्तुति नहिं कर सकते हैं।।82।।

अर्थ–व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक ही हैं किन्तु निश्चयनय कहता है कि ये जीव और शरीर किसी काल में भी एक नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ–जो स्तुति, वंदना, भक्ति आदि क्रियाएँ हैं, ये सब व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती हैं। निश्चयनय से तो आत्मा स्वयं सिद्ध है, शुद्ध है अतः स्तुति आदि की आवश्यकता ही नहीं है। मुनिराज निश्चयनय का अवलम्बन लेकर मात्र शुद्धात्मा के ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञानी हो जाते हैं।

आत्मा कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है–

कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।83।।

(नियमसार गाथा-18)

आत्मा व्यवहार नयाश्रय से, पुद्गल कर्मों का कर्ता है।
भोक्ता भी है क्योंकि कर्मों के, सुख-दुख फल को भर्ता है।।
कर्मोदय से उत्पन्न हुए, रागादिभाव जो आत्मा के।
निश्चयनय से उन कर्मों का, कर्त्ता भोक्तापन आत्मा में।।83।।

अर्थ–आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। यही आत्मा निश्चयनय से कर्म से उत्पन्न हुये भावों का कर्त्ता और भोक्ता है।

भावार्थ–ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का उपादान कारण पुद्गल ही है किन्तु निमित्त कारण आत्मा है अतः व्यवहारनय से यह आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है। पुनः कर्मोदय से हुए जो रागादिभाव हैं, उन भाव कर्मों का कर्ता-भोक्ता आत्मा निश्चयनय से ही है क्योंकि इन भावों का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण कर्मों का उदय है। यहाँ निश्चयनय से अशुद्ध निश्चयनय लेना क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध है ही नहीं।

शुद्ध आत्मा का लक्षण–

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।84।।

(नियमसार गाथा-102)

मेरा आत्मा बस एक अकेला, शाश्वत है अविनाशी है।
दर्शनसुज्ञान लक्षण वाला, स्वाभाविक ज्ञानप्रकाशी है।।
हैं शेष सभी संयोगजन्य, लक्षण वाले जो भाव कहे।
मेरी आत्मा से भिन्न भाव, होने से मुझसे बाह्य रहें।।84।।

अर्थ–मेरा आत्मा एक अकेला, शाश्वत है, ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है, शेष सभी भाव संयोग लक्षण वाले हैं, अतः वे मेरे से बाह्य हैं।

भावार्थ–यह आत्मा अविनाशी है, ज्ञान-दर्शन लक्षण से जाना जाता है। बाकी जितने भी भाव दिखते हैं क्रोध, मान आदि अथवा इन्द्रियजन्य सुख आदि के अनुभव से हुए हर्ष-विषादादि, ये सभी भाव कर्मों के संयोग सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, अतः ये मेरी आत्मा से भिन्न ही हैं, इसे ही पुनः दूसरे शब्दों में कहते हैं।

आत्मा का परमाणुमात्र भी अपना नहीं है–

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झकिंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि।।85।।

(समयसार गाथा-38)

मैं हूँ अनादि से एक और, सब कर्ममलों से रहित शुद्ध।
मैं दर्शन-ज्ञानस्वरूपी हूँ, अरु सदा अमूर्तिक स्वयं बुद्ध।।
कुछ अन्य और परमाणुमात्र भी, मेरे नहिं हो सकते हैं।
निश्चयनय से यह आत्मभावना, सब प्राणी कर सकते हैं।।85।।

अर्थ–मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ, और सदा ही अमूर्तिक हूँ। अन्य कुछ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

भावार्थ–मैं अनादिकाल से एक—अकेला ही हूँ, कर्ममल से रहित होने से शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ और वर्ण, रस आदि से रहित होने से अमूर्तिक हूँ। अन्य पुद्गल द्रव्यादि अणुमात्र भी मेरे नहीं हैं।

यह गाथा सतत् हृदय पटल पर अंकित कर लेनी चाहिये। इससे सर्व-समस्याओं में मानसिक शांति मिलेगी और आत्मबल बढ़ेगा।

व्यवहारनय का कथन उपयोगी ही है–

ववहारस्स दरीसण, मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा।।86।।

(समयसार गाथा-41)

ये जो रागद्वेषादि भाव, नर-नारक आदिक पर्याएँ।
ये सभी जीव में होती हैं, इसलिये जीव की कहलाएँ।।
ऐसा श्री जिनवर ने व्यवहारिक, नय से ही बतलाया है।
है तीर्थप्रवृत्ति में निमित्त, इसलिये इसे समझाया है।।86।।

अर्थ–ये सब जो राग-द्वेष आदि भाव और नर-नारक आदि पर्याएँ हैं, वे सब जीव ही हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्र देव ने जो कहा है, वह व्यवहारनय का मत है।

भावार्थ–श्रीअमृतचंद्र सूरि ने कहा है कि **'व्यवहारो हि... तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव।'** व्यवहारनय तीर्थप्रवृत्ति में निमित्त है अतः उसको कहना उचित ही है। अन्यथा निश्चय से तो शरीर से जीव भिन्न है पुनः त्रस-स्थावर जीवों को राख के समान मर्दित कर देने से न हिंसा होगी, न पापबन्ध होगा और तब संसारी जीव का मोक्ष के लिये प्रयास करना ही व्यर्थ हो जायेगा, इसलिये व्यवहारनय को कहना प्रयोजनीभूत ही है।

आत्मा का स्वरूप क्या है ?

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणाण्गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।87।।

(समयसार गाथा-49)

यह जीव रूप, रस, गन्ध रहित, अरु शब्द रहित शुद्धात्मा है।
इन्द्रियगोचर भी नहीं चेतना-गुण से सहित चिदात्मा है।।
उस आत्मा को नहिं किसी लिंग से, ग्रहण किया जा सकता है।
आकार रहित उस आत्मा को, शुद्धात्मा ही पा सकता है।।87।।

अर्थ–यह जीव रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, इन्द्रियों के अगोचर और शब्दरहित है, चेतनागुण सहित है तथा किसी भी लिंग—चिन्ह से ग्रहण नहीं किया जाता है और आकार से भी रहित है, ऐसा तुम जानो।

भावार्थ–ये रस, रूप, गंध, शब्द आदि पुद्गल के गुण और पर्याएँ हैं। जीव शुद्धनय से या स्वभाव से इन सबसे रहित है और चेतनागुण से सहित है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि के सम्पर्क में गरम होकर अग्नि के समान काम कर देता है वैसे ही संसारी जीव पुद्गल कर्म के सम्पर्क में अपने शुद्ध स्वभाव को छोड़कर शरीरधारी अशुद्ध हो रहा है, अतः यह गाथा शुद्धनय से शुद्ध जीव का स्वरूप बतलाने वाली है।

ज्ञान और आस्रव से छूटना एक साथ है–

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य, णादूण णिवत्तए तेहिं।।88।।

(समयसार गाथा-74)

जो ये कर्मों के आस्रव हैं, वे जीव से ही संबंधित हैं।
अध्रुव अनित्य अशरण दुःख, औ दुःख फल से आत्मा मिश्रित है।।
ज्ञानी आत्मा यह बात समझकर, उनसे दूर हुआ करता।
तब ही वह आश्रव का निरोध कर, संवर भाव किया करता।।88।।

अर्थ–जो ये कर्मों के आस्रव हैं, वे जीव से सम्बन्धित हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःखों के फलस्वरूप हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे दूर हो जाता है।

भावार्थ–यह जीव ध्रुव—चैतन्यमात्र है, नित्य है, सुखमय है और सुख के फलरूप है। इससे विपरीत कर्मास्रव अध्रुव व आदिस्वरूप हैं। ज्ञानी मुनिराज इन दोनों के अन्तर को जानकर आस्रव से दूर होकर ज्ञानस्वरूप आत्मा के ध्यान में तल्लीन हो जाते हैं तभी वे आस्रव का निरोध कर पूर्णसंवर करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि **'ज्ञानास्रवनिर्वृत्त्योः समकालत्वं'** ज्ञान और आस्रव का अभाव इन दोनों का एक काल है अतः यह अवस्था महामुनि के चतुर्थकाल में ही संभव है।

बंध के कारण चार हैं–

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा।।89।।

(समयसार गाथा-109)

सामान्यरूप से कर्मबन्ध के, कारण चार कहाए हैं।
उनको श्री जिनवर ने प्रत्यय, संबोधन से बतलाए हैं।।
मिथ्यात्व और अविरति-कषाय, अरु योग बन्ध के कारण हैं।
इनके यदि भेद-प्रभेद करें तो, हो जाते सत्तावन हैं।।89।।

अर्थ–बंध के करने वाले सामान्य प्रत्यय—सामान्य कारण चार हैं। मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ–सामान्यरूप से बंध के कारण चार हैं तथा इनके भेद-प्रभेद अनेक हैं, ये विशेष कहलाते हैं। मिथ्यात्व के 5, अविरति के 12, कषाय के 25 और

योग के 15 ऐसे 57 भेद हो जाते हैं। आस्रव के भी ये ही 57 भेद हैं क्योंकि कर्मों का आना आस्रव है और आत्मा के प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बंध है। जो मिथ्यात्व को बंध का कारण नहीं मानते हैं उन्हें श्रीकुन्दकुन्ददेव की इस गाथा पर ध्यान देना चाहिये।

कथंचित् जीव कर्मों से बंधा है कथंचित् नहीं भी बंधा है–

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।90।।

(समयसार गाथा-141)

आत्मा में कर्म बंधे हैं अरु, आत्मा उनसे संस्पर्शित है।
व्यवहारिक नय यह कहता है, आत्मा की ही चारों गति हैं।।
लेकिन निश्चयनय कहता है, आत्मा में कर्म न बंधते हैं।
संस्पर्शित भी नहिं है आत्मा, ऐसा श्री जिनवर कहते हैं।।90।।

अर्थ–जीव में कर्म बंधे हैं और स्पर्शित हैं, ऐसा व्यवहारनय कहता है और जीव में कर्म न बंधे हैं न स्पर्शित हैं, ऐसा शुद्धनय का वचन है।

भावार्थ–व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव कर्मों से बंधा हुआ है, संसारी है, मनुष्य-देव आदि पर्यायों में है किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से यह जीव कर्मों से बंधा न होने से सदाशिव है, शुद्ध है, मुक्त है, नित्य-निरंजन भगवान आत्मा है, ऐसा समझना। यह शुद्धनय आत्मा की शक्ति को कहने वाला है जैसे कि बीज ही वृक्ष है और दूध ही घी है इत्यादि।

समयसार कौन है ?

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।91।।

(समयसार गाथा-142)

आत्मा में कर्म बंधे अथवा, नहिं बंधे ज्ञान जो होता है।
नय पक्ष से ही पुद्गल कर्मों का, भान सभी को होता है।।
जो पुनः नयों से पक्षपात से, दूर हो चुके आत्मा हैं।
उनको ही समयसार कहते, वे ध्यानलीन शुद्धात्मा हैं।।91।।

अर्थ–जीव में कर्म बंधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हैं, यह नयों का पक्ष है ऐसा तुम जानो। पुनः जो इन नयों के पक्ष से दूर हो चुके हैं, वे ही 'समयसार' हैं।

भावार्थ–शुद्धनय कहता है कि जीव शुद्ध है, अशुद्धनय कहता है कि जीव

अशुद्ध है। द्रव्यार्थिकनय से जीव नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है। इन नयों के विकल्पों से परे निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनि ही 'समयसार' हैं। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने 13 काव्यों में उभयनयों के पक्ष से रहित शुद्ध, आत्मतत्त्व के ध्यानी महामुनि का वर्णन किया है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तो क्या, छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी इस नय पक्ष से रहित समयसारस्वरूप नहीं हो पाते हैं।

कर्मबन्ध कहाँ तक है ?

जह्मा दु जहण्णादो, णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो।।92।।

(समयसार गाथा-171)

जिस हेतु ज्ञान गुण पुनः, जघन्य ज्ञानगुण में आ जाता है।
होकर जघन्य से अन्य रूप, परिणमन ज्ञान कर जाता है।।
उस ही हेतु से वही ज्ञानगुण, कर्मबन्ध को करता है।
रागी भावों से दशम, गुणस्थानों तक बंधक रहता है।।92।।

अर्थ–जिस हेतु से ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी हेतु से वह ज्ञानगुण कर्मबन्ध को करने वाला कहा गया है।

भावार्थ–''स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविराग-सद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।'' वह ज्ञानगुण यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के पहले-पहले दसवें गुणस्थान तक बंध का हेतु ही है क्योंकि वहाँ तक रागभाव अवश्यंभावी है अतः समयसार के अबन्धक होने वाले ज्ञानी अविरत या श्रावक नहीं हैं प्रत्युत् चतुर्थकालीन तद्भव मोक्षगामी महामुनि ही हो सकते हैं। आज तो मात्र वैसे बनने की भावना ही भायी जा सकती है।

कहाँ तक कर्म बंधते हैं ? पुनरपि स्पष्टीकरण–

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि, पुग्गलकम्मेण विविहेण।।93।।

(समयसार गाथा-172)

ये दर्शन-ज्ञान-चरण जिस, कारण से जघन्य कहलाते हैं।
उस कारण ही ज्ञानी आत्मा में, विविध कर्म बंध जाते हैं।।
क्योंकि सरागरत्नत्रय के, धारी मुनि कर्मबन्ध करते।
दशवें गुणस्थान उपरि के मुनि, नहिं कर्मबंध को कर सकते।।93।।

अर्थ–ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र जिस कारण जघन्य भाव से परिणमन करते हैं इस कारण ही ज्ञानी विविध पुद्गल कर्मों से बंधते रहते हैं।

भावार्थ–जब तक यह रत्नत्रय-सराग संयमरूप रहता है, तब तक उन ज्ञानी मुनि के भी कर्मों का बंध होता रहता है किन्तु जब यही रत्नत्रय वीतराग बन जाता है, तब वे ध्यानी महामुनि कर्मबंध से छूट जाते हैं।

यह सरागसंयम और कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। आज सातवें गुणस्थान से ऊपर मुनि जा ही नहीं सकते हैं। समयसार पढ़ते समय ये दोनों गाथाएँ और श्रीअमृतचंद्र सूरि की टीका रट लेनी चाहिये।

हिंसा से पाप और अहिंसा से पुण्य बन्ध होता है–

मारिमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।94।।

(समयसार गाथा-261)

मैं जीव मारता हूँ अथवा, जिन्दा करता यह अहं भाव।
हे प्राणी जो तेरा ऐसा, अभिप्राय वही है बन्ध भाव।।
वह पापबन्ध औ पुण्य बन्ध, दोनों का करने वाला है।
शुभ-अशुभ भाव से पुण्य-पाप का, संचय करने वाला है।।94।।

अर्थ–मैं जीवों को मारता हूँ या जिलाता हूँ ऐसा जो तुम्हारा अभिप्राय है वह पाप का बन्ध करने वाला है या पुण्य का बन्ध करने वाला है ?

भावार्थ–जीवों के मारने के भावों से पापकर्मों का बन्ध होता है और जीवों को जीवनदान-दयादान देने के भावों से पुण्यकर्मों का बन्ध होता है। ऐसे ही जीवों को दुःखी या सुखी करने के भावों से पाप या पुण्य कर्म बँधते रहते हैं अतः समयसार की इन गाथाओं से 'जीवदया' धर्म को अधर्म नहीं कहना चाहिये। यह गाथा हिंसा-अहिंसारूप आव्रत-व्रत को कहने वाली है। आगे शेष चार व्रतों को कहते हैं।

असत्य आदि चार पापों से पाप ही बंधता है–

एवमलिये अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पावं।।95।।

(समयसार गाथा-263)

इस हिंसा अव्रत के समान ही, अन्य पाप बतलाए हैं।
जिसमें असत्य-चोरी-कुशील, परिग्रह ये नाम गिनाए हैं।।

इनके करने से पाप कर्म का, बन्ध सदा होता रहता।
इनसे विरक्त होकर प्राणी, अणुव्रत-महाव्रत धारण करता।।95।।

अर्थ–इसी हिंसा के समान ही असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह में जो भाव किये जाते हैं, उनसे पापकर्म का बन्ध होता है।

भावार्थ–पाप पाँच ही हैं–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, ये अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं। जब तक महाव्रत या अणुव्रत नहीं लिये जाते हैं तब तक **'एक्के भावे अणाचारे'**[1] एक भाव अनाचार है इसके अनुसार व्रतों से रहित अनाचाररूप प्रवृत्ति करते रहने से पाप का बंध होता ही रहता है क्योंकि व्रतों को भंग करना अनाचार है और व्रतों को नहीं ग्रहण करना भी अनाचार है।

सत्य आदि चार व्रतों से पुण्य बंधता है–

तहवि व सच्चे दत्ते, ब्रह्मे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पुण्णं।।96।।

(समयसार गाथा-264)

ऐसे ही अहिंसा के समान, व्रत और बताए जाते हैं।
जिनमें हैं सत्य-अचौर्य-शील, अपरिग्रह को समझाते हैं।।
ये व्रत धारण करने से मानव, व्रती पुरुष कहलाते हैं।
प्रतिसमय पुण्य का बन्ध करें, अंतिम शिवफल पा जाते हैं।।96।।

अर्थ–उसी प्रकार अहिंसा के सदृश ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जो परिणाम होते हैं, उनसे पुण्य का बन्ध होता है।

भावार्थ–पूर्व के पाँचों पापों के त्याग से पाँच महाव्रत होते हैं। ये महाव्रत दिगम्बर जैन मुनियों के ही होते हैं। इनसे पुण्य का बन्ध तो होता ही है, साथ ही घटिका यंत्र के जल के समान प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा भी होती है क्योंकि महाव्रती मुनि ही कर्मों से छूटते हैं न कि श्रावक या अव्रती, अतः पुण्यबन्ध से डरकर व्रती नहीं बनना यह बुद्धिमानी नहीं है।

निर्विकल्पध्यानी महामुनि ही कर्मों से छूटते हैं–

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।97।।

(समयसार गाथा-270)

1. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी।

ये अध्यवसानादिक जितने भी, भाव कहे जिन आगम में।
उन भावों का अस्तित्व नहीं है, जिस मुनि के अन्तर्मन में।।
ऐसे मुनिवर शुभ-अशुभ कर्म के, बन्धन से नहिं बंधते हैं।
वे शुक्लध्यान से घातिकर्म को, नाश केवली बनते हैं।।97।।

अर्थ–ये हिंसा-अहिंसा आदि अनेक प्रकार के जितने भी भाव हैं, वे जिनके नहीं हैं, ऐसे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं।

भावार्थ–ये शुभ-अशुभ परिणाम जहाँ नहीं हैं, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प भी नहीं है ऐसे निर्विकल्प ध्यान की स्थिति में तन्मय हुए बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि ही शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं प्रत्युत् घातिया कर्मों का नाशकर वे केवली भगवान बन जाते हैं। आज के सम्यग्दृष्टि श्रावक को तो क्या, मुनियों को भी ऐसा ध्यान सम्भव नहीं है। आज तो पापों को छोड़ अणुव्रती या महाव्रती अवश्य बनना चाहिये।

मात्र द्रव्यलिंग ही मोक्षमार्ग नहीं है–

ण वि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्तणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति।।98।।

(समयसार गाथा-410)

मुनि लिंग और गृहिलिंगरूप, जो द्रव्यलिंग बतलाए हैं।
इनको नहिं मोक्षमार्ग माना, ये साधन मात्र बताए हैं।।
लेकिन दर्शन अरु ज्ञान-चरणमय, रत्नत्रय ही शिवपथ है।
जिनमुनियों में यह रत्नत्रय, वे ही पा जाते शिवमग हैं।।98।।

अर्थ–मुनिलिंग और गृहिलिंगरूप द्रव्यलिंग ये मोक्षमार्ग नहीं हैं किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ–यहाँ पाखण्डीलिंग शब्द से टीकाकारों ने दिगम्बर मुनिलिंग और गृहिलिंग से क्षुल्लक आदि के लिंग को लिया है। यदि ये मात्र द्रव्यलिंग ही हैं तो मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। हाँ, यदि यह रत्नत्रय होगा तो इन दोनों प्रकार के लिंग में–वेश में ही होगा अन्य कुत्सित-कपोलकल्पित वेषों में नहीं होगा, यह बात ध्यान में रखना चाहिए। इसे ही कहते हैं–

दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है–

णणि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।।99।।

(सूत्रपाहुड़ गाथा-23)

यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारि हैं, मोक्ष प्राप्त नहिं कर सकते।
ऐसा जिनशासन में माना, नहिं मिथ्या उनको कह सकते।।
बस एक नग्न मुद्रा से ही, मुक्ती का मारग मिल सकता।
बाकी के सब उन्मार्गों से, भव-भव का भ्रमण हुआ करता।।99।।

अर्थ–जिनशासन में ऐसा कहा है कि यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हैं तो वे मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। एक नग्नमुद्रा ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी वेष उन्मार्ग हैं—मिथ्यामार्ग हैं।

भावार्थ–तीर्थंकर देव मति, श्रुत, अवधिज्ञानधारी होकर भी जब तक सर्व-परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि नहीं बनते हैं, तब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकते हैं अतः दिगम्बर मुद्रा के सिवाय सर्व अनेक प्रकार के साधुवेश दिगम्बर मत से बाह्य हैं उनसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है। इससे व्यवहारनय और व्यवहारवेष का बहुत बड़ा मूल्यांकन किया गया है।

मुनिवेष व्यवहारनय से मोक्ष का कारण है–

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।100।।

(समयसार गाथा-414)

व्यवहार पुनः दोनों लिंगों को, मोक्षमार्ग में मान रहा।
क्योंकि इनमें ही रत्नत्रय अरु, ध्यानसिद्धि का ज्ञान कहा।।
लेकिन निश्चयनय शिवपथ में, नहिं लिंग कोई स्वीकार करे।
क्योंकि निश्चय तो वीतराग, शुद्धात्मा में विश्वास करे।।100।।

अर्थ–व्यवहारनय पुनः दोनों ही लिंगों को मोक्षमार्ग में मानता है और निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता है।

भावार्थ–मुनिवेष और क्षुल्लक आदिरूप श्रावक के वेष व्यवहारनय की अपेक्षा से मोक्ष के कारण हैं क्योंकि इन वेषों के बिना रत्नत्रयधर्म और धर्म-शुक्लध्यान की सिद्धि असम्भव है फिर भी निश्चयनय मोक्षमार्ग में इन किसी वेष को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि निश्चयनय मात्र निर्विकल्प ध्यानरूप वीतराग अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहता है फिर भी यह अवस्था मुनिवेशधारी महामुनि के ही होगी क्योंकि तीर्थंकर भी दिगम्बर दीक्षा लेते ही हैं और कुन्दकुन्ददेव भी दिगम्बर मुनि ही थे।

(5) वीतराग चारित्र का फल

शुद्धोपयोगी मुनि ही केवली बनते हैं–

उवओग विसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं।।101।।

(प्रवचनसार गाथा-15)

शंभु छन्द–

जो महामुनि उपयोग विशुद्धी-पूर्वक ध्यान लगाते हैं।
उनके दर्शन-ज्ञानावरणी, अन्तराय-मोह नश जाते हैं।।
उस ही क्षण केवलज्ञान प्रगट, होता सर्वज्ञ कहाते हैं।
तब ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता, स्वयमेव प्रभो बन जाते हैं।।101।।

अर्थ–जो उपयोग से विशुद्ध हैं, वे मोहनीय, दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतराय को नष्ट करके स्वयं ही ज्ञेय पदार्थों के अन्त को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–जब महामुनि शुद्धोपयोगी होकर निश्चल ध्यान में तन्मय हो जाते हैं तब वे मोहनीय कर्म को नष्ट कर बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का नाश करके उसी क्षण में केवलज्ञान को प्रकट कर सर्वज्ञ भगवान बन जाते हैं पुनः ये सर्वलोक-अलोक को एक साथ जान लेते हैं।

केवलज्ञान की महिमा–

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं।।102।।

(प्रवचनसार गाथा-37)

सर्वज्ञदेव के ज्ञान में, त्रैकालिक पर्याय झलकती हैं।
सम्पूर्ण भूत, भावी, पर्यायें, वर्तमान सम दिखती हैं।।
यदि ऐसा नहिं मानें तो प्रभु का, दिव्यज्ञान कैसे होगा ?।
बिन दिव्यज्ञान के जिनवर को, सम्पूर्ण ज्ञान कैसे होगा ?।।102।।

अर्थ–उन केवली भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण भूत और भविष्यत् पर्यायें विशेष रीति से वर्तमान की पर्यायों के समान प्रतिभासित होती रहती हैं।

भावार्थ–सर्वज्ञ के ज्ञान में अतीतकालीन राम-रावण आदि भविष्यत्कालीन महापद्म तीर्थंकर आदि वर्तमान के समान प्रत्यक्ष झलक रहे हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो पुनः **'तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परुवेंति'**। उन सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान

दिव्य है–अलौकिक है ऐसा भला कौन कहेंगे ? अतः सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान त्रैकालिक सर्व पर्यायों में एक समय में जानता है, इसमें संदेह नहीं करना।

अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं–

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिया।
मोहादीहिं विरहिया, तम्हा सा खाइगत्ति मदा।।103।।

(प्रवचनसार गाथा-45)

अरिहंत अवस्था पुण्य प्रकृति का, फल है यह निश्चय मानो।
उनकी प्रत्येक क्रियाएँ, औदयिकी कहलाती यह जानो।।
मोहादिक से विरहित होने से, क्षायिक भी कहलाती हैं।
उन वीतराग की दिव्यध्वनि, आत्मा की ज्योति जलाती है।।103।।

अर्थ–अरिहंत भगवान पुण्य प्रकृति के फल हैं और उनकी क्रियाएँ निश्चय से औदयिकी हैं क्योंकि वे मोहादि से रहित होने से क्षायिक मानी गयी हैं।

भावार्थ–अरिहंत भगवान तीर्थंकर प्रकृति पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं। उनका श्रीविहार, उपदेश आदि क्रियाएँ पुण्योदय से होती हैं, अतः औदयिकी हैं फिर भी मोह के अभाव में इच्छा के न होने से वे सब घातिकर्म के क्षय से हुई हैं अतः क्षायिकी मानी जाती हैं। ऐसे भगवान का श्रीविहार और दिव्य उपदेश अनंत जीवों के लिये सुखकर माना गया है।

केवली भगवान व्यवहार से ही विश्व को जानते हैं–

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।104।।

(नियमसार गाथा-159)

भगवान केवली सारे जग को, जान रहे अरु देख रहे।
नहिं है असत्य व्यवहारिक नय, वह ही ऐसा स्वीकार करे।।
फिर वही केवली निज आत्मा को, जान रहे अरु देख रहे।
इस पूर्ण सत्य को निश्चयनय, निश्चय से ही स्वीकार करे।।104।।

अर्थ–केवली भगवान व्यवहारनय से सारे विश्व को जानते हैं तथा देखते हैं और नियम से—निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

भावार्थ–यहाँ व्यवहारनय असत्य नहीं है, वह पराश्रित है ऐसा समझना। अन्यथा सर्वज्ञ भगवान का सर्वलोकालोक का जानना-देखना झूठा मानना

पड़ेगा। इसलिये व्यवहारनय के अनेक भेदों को समझना चाहिये। ये सभी नय अपने-अपने विषय को कहने में सच्चे ही हैं, झूठे नहीं हैं। हाँ! जो व्यवहारनय उपाधि को ग्रहण करने वाला है, वह अपेक्षाकृत ही अभूतार्थ है।

केवली भगवान सर्वकर्म क्षय कर लोकाग्र पर चले जाते हैं–

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण।।105।।

(नियमसार गाथा-175)

अपनी आयूपर्यन्त केवली, समवसरण में रहते हैं।
आयू के क्षय के साथ शेष, कर्मों का क्षय भी करते हैं।।
पश्चात् शीघ्र ही समय मात्र में, लोक शिखर बस जाते हैं।
अशरीरी सिद्धात्मा बनकर, सिद्धालय में बस जाते हैं।।105।।

अर्थ–केवली भगवान के आयु के क्षय के साथ ही शेष प्रकृतियों का नाश हो जाता है, पश्चात् वे शीघ्र ही एक समयमात्र में लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–केवली भगवान अपनी आयुपर्यंत समवसरण में विराजकर दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्य जीवों को धर्मोपदेश से तार देते हैं पुनः आयु कर्म के समाप्त होने के साथ-साथ शेष—अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। तब अशरीरी सिद्धात्मा एकसमय मात्र में यहाँ से गमन कर तीन लोक के अग्रभाग में सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाते हैं।

सिद्ध भगवान लोकाग्र से ऊपर क्यों नहीं जाते ?

जीवाणं पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति।।106।।

(नियमसार गाथा-183)

जीव अरु पुद्गल का गमन क्षेत्र, धर्मास्तिकाय के आश्रित है।
उसके अभाव में जीव और, पुद्गल आगे नहिं जा सकते हैं।।
बस पुरुषाकार प्रमाण लोक तक, धर्म द्रव्य की सत्ता है।
इस कारण ही उसके आगे नहिं, जीव द्रव्य जा सकता है।।106।।

अर्थ–जीव और पुद्गलों का गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जानो क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में ये उससे परे नहीं जा सकते हैं।

भावार्थ–पुरुषाकारप्रमाण लोकाकाश में ही जीव और पुद्गल हैं, यहीं तक धर्म, अधर्म और कालद्रव्य हैं इसलिये तीनों लोकों से परे धर्मास्तिकाय के न होने

से सिद्ध भगवान भी अलोकाकाश में नहीं जा सकते हैं। यह व्यवहारनयप्रधान कथन है क्योंकि निश्चयनय से जीव के गमनागमन का प्रश्न ही नहीं है।

इस प्रकार अनंत-अनंत संसारी प्राणी, श्रावक और मुनिधर्म को प्राप्त कर ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर सिद्ध भगवान हो चुके हैं। वे वापस संसार में कभी भी नहीं आयेंगे।

हम आत्मगुणों की एवं भगवान की शरण लेते हैं–

णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो।।107।।

(मूलाचार गाथा-96)

मेरी आत्मा के लिये ज्ञान ही, शरण चरित्र शरण ही है।
तप, संयम, शरण और सम्यग्दर्शन, बिन शरण कोई नहिं हैं।।
भगवान वीर की शरण मुझे, अंतिम समाधि की शरण मिली।
इन सच्चे चरणों में आकर, मुझको आत्मा की शरण मिली।।107।।

अर्थ–मेरे लिये ज्ञान शरण है, चारित्र शरण है, तप शरण है, संयम शरण है और भगवान महावीर स्वामी शरण हैं।

भावार्थ–यहाँ श्री कुन्दकुन्द देव ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम को शरण माना ही है क्योंकि ये ही आत्मा को शुद्ध करने वाले हैं और आत्मा के ही गुण हैं, पुनः भगवान महावीर स्वामी की शरण ली है। हमें भी इन रत्नत्रय गुण की और भगवान महावीर की शरण लेनी चाहिये क्योंकि भगवान की शरण के बिना केवल अध्यात्म आपत्ति में रक्षा नहीं कर सकता है, यह नियम है।

ग्रन्थकार ने सर्वत्र व्यवहार-निश्चय का समन्वय किया है–

इदि णिच्छयववहारं, जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावइ परमणिव्वाणं।।108।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-91)

मुझे कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने जो, ऐसा निश्चय व्यवहार कहा।
दोनों ही नय के द्वारा जो, सिद्धान्त समन्वयसार कहा।।
उसको जो मुनिवर शुद्धमना, हो करके नितप्रति भाते हैं।
वे ही मुनिवर संसार छोड़, निर्वाण धाम पा जाते हैं।।108।।

अर्थ–मुझ कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने जो इस प्रकार से निश्चय और व्यवहार को

कहा है, उसको जो शुद्धमना होकर भाते हैं वे परमनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–'बारह अनुपेक्खा' ग्रन्थ में आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अंत में अपना नाम रखा है अतः ग्रन्थ की समाप्ति में अपना नाम नहीं रखना ऐसा एकान्त नहीं लेना चाहिये। आज प्रायः कई ग्रन्थों में कर्त्ता का नाम न होने से वे ग्रन्थ ही विसंवाद के विषय बन जाते हैं, जैसे कि पंचाध्यायी आदि।

इस प्रकार अपने सर्वग्रन्थों में आचार्यदेव ने निश्चयव्यवहार दोनों नयों का समन्वय किया है। जो दोनों नयों को लेकर शुद्ध आत्मतत्त्व आदि भाते हैं, वे ही निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रशस्ति

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ नव, चिंतन कर चिरकाल।
'ज्ञानमती' गुम्फित करी, कुन्दकुन्द मणिमाल।।1।।

पच्चीस सौ सत्याशिवां, चैत्र त्रयोदशि शुद्ध।
वीर जनम दिन पूर्ण की, यह मणिमाल विशुद्ध।।2।।

भविजन पहनो कण्ठ में, इसका अतिशय तेज।
पूर्ण 'ज्ञानमति' रवि उगे, खिलें स्वगुण पंकेज।।3।।

अर्थ–श्रीकुन्दकुन्ददेव के नौ ग्रन्थों का बहुत दिनों तक चिंतन करके ''आर्यिका ज्ञानमती'' मैंने यह 'कुन्दकुन्द मणिमाला' गूँथी है। पच्चीस सौ सत्यासीवें वीर जयंती दिवस चैत्रसुदी तेरह को यह विशुद्ध मणिमाला पूरी की है। हे भव्य जीवों! तुम इसे अपने कंठ में पहनो, यह अतिशय तेजोमयी है। इससे पूर्ण केवल ज्ञानमती सूर्य उदित होगा जिससे अपने गुणरूपी कमल खिल जायेंगे।

भावार्थ–श्रीकुन्दकुन्ददेव के दशभक्ति, अष्टपाहुड़, द्वादशानुप्रेक्षा, रयणसार, मूलाचार, पंचास्तिकाय, नियमसार, प्रवचनसार और समयसार ये नौ ग्रन्थ हैं। छत्तीस वर्ष के दीक्षित—संयमी जीवन में मैंने उनका चिंतन-पठन-पाठन अभ्यास किया है। पुनः उनमें से 108 गाथाओं को चुनकर यह 'कुन्दकुन्द मणिमाला' पिरोयी है। वीर निर्वाण संवत 2515 और भगवान महावीर की आयु के 72 वर्ष मिलाकर चैत्र सुदी तेरह के दिन अर्थात् 2587वें वीर जयंती दिन यह मणिमाला पूरी हुई है। हे भव्य नर-नारियों! तुम इसे कंठाग्र कर लो, इसके तेज के प्रभात में केवलज्ञानमय सूर्य उदित होगा जिसके उगते ही अपनी आत्मा के अनंत ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुण प्रकट हो जायेंगे।

इति शं भूयात।

दोहा

कुन्दकुन्द के नवरतन, इस युग में वरदान।
जो करते इनमें रमण, पाते पद निर्वाण।।1।।

युग की पहली ज्ञानमति, गणिनी माता ख्यात।
इक सौ अठ पद युक्त कृति, जग को दीनी मात।।2।।

मणिमाला की पद्यमय, रचना पूरण जान।
किया ''चंदनामति'' सुगम, मावस ज्येष्ठ सुमान।।3।।